सिरि–कुंदकुंद–आयरिय–विरइयं

झाणज्झयण–पाहुडं

आशीषानुकंपा

शताब्दी देशनाचार्य श्री विशुद्धसागर जी मुनिराज

अनुवादक

श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज

सम्पादक

श्रुतप्रिय श्रमण अप्रमितसागर जी मुनिराज

पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवांस

प्रकाशक

समर्पण समूह

जैनं वचनं सदा वंदे

कृति
झाणज्झयण पाहुडं

कृतिकार
श्रीमद् दिगम्बराचार्य कुंदकुंद स्वामी

आशीषानुकंपा
शताब्दी देशनाचार्य श्री विशुद्धसागर जी मुनिराज

अनुवादक
श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर जी मुनिराज

संपादक
श्रुतप्रिय श्रमण अप्रमितसागर जी मुनिराज
पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन रजवांस

सहयोग
सहजानन्दी श्रमण सहजसागर जी मुनिराज

प्रकाशक
समर्पण समूह, भारत

प्राप्ति स्थान
समर्पण समूह, भारत
9179050222 (भोपाल)
9827607171 (जबलपुर)
9826010104 (इंदौर)
9425316840 (इंदौर)
6376649881 (भीलवाड़ा, राज.)

मुद्रक
जैन राजेश कानूगो
डीसेन्ट ग्राफिक्स, इन्दौर (म.प्र.)
मो. 9826014047

झाणज्झयण पाहुड समीक्षा

● **डॉ. श्रेयांस कुमार जैन**
अध्यक्ष : अखिल भारतवर्षीय दिगंबर जैन शास्त्री परिषद

श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत चौरासी पाहुड ग्रंथों का उल्लेख मिलता है किन्तु वर्तमान में समयपाहुड, पवयणपाहुड, णियमपाहुड, वारसाणुवेक्खा, अष्टपाहुड, दश भक्ति, पंचत्थिकाय नामक ग्रंथ उपलब्ध हैं और इनका पठन–पाठन विशेष रूप से प्रबुद्ध वर्ग में चल रहा है। प्रसन्नता का विषय है कि प्रतिष्ठाचार्य पण्डित श्री विनोद कुमार जैन रजवांस ने झाणज्झयण पाहुड नामक कृति को खोजा और **प्रज्ञावंत प्रशस्त क्षयोपशमी मुनिश्री आदित्यसागर जी** के हाथों में सौंपा। एक श्रावक के द्वारा **विद्याव्यसनी श्रमण** को यह अमूल्य धरोहर देकर जैन शास्त्र परम्परा को समृद्ध बनाने में योगदान दिया।

श्रमण मुनि श्री आदित्यसागर जी महाराज जैन विद्या में पारंगत हैं क्योंकि इन्हें शिक्षा–दीक्षा प्रदान करने वाले, प्रज्ञा और प्रतिभा के अधिपति अध्यात्मविद्या पुरस्कर्ता चर्या शिरोमणि आचार्य श्री विशुद्धसागर जी हैं। ज्ञानवान गुरु के ज्ञानवान शिष्य होने का गौरव प्राप्त मुनि श्री आदित्यसागर जी महाराज आदित्य सम ज्ञान–ध्यान का प्रकाश फैला रहे हैं। ज्ञान–ध्यान के प्रतिपादक झाणज्झयण पाहुड ग्रंथ के प्रमेय को उद्घाटित करते हुए भाषान्तर करना मुनि श्री आदित्यसागर जी का महत्त्वपूर्ण कार्य है।

यह '**झाणज्झयण पाहुड**' अध्यात्म शिरोमणि कुन्दकुन्दाचार्य श्री की रचना है, क्योंकि लिखा मिलता है कि '**अह झाणज्झयणं कुंदकुंदायरिय विरइयं**' इस वाक्य से कुन्दकुन्दाचार्य की रचना मानी गई है। इसके अतिरिक्त क्षुल्लक 105 सिद्धसागर जी कृत पद्यानुवाद में झाणज्झयण पाहुड को कुन्दकुन्द आचार्य कृत ही कहा गया है।

कुन्दकुन्द आचार्य कृत, प्राभृत यह अम्लान।
सिद्ध सिन्धु इसको पढ़ो, करो आत्मकल्याण।।

इस कृति की ध्यान विषयक विषयवस्तु का उपस्थान शास्त्र परम्परा से जुड़ा हुआ है, क्रमबद्ध है, इसलिये प्रामाणिक आचार्य की ही कृति मानना चाहिये। हाँ, कुन्दकुन्दाचार्य नाम से अपर आचार्य की भी

संभावना मानने में आपत्ति नहीं की जा सकती है।

झाणज्झयण 105 गाथाओं वाली लघुकृति है। यह निःसंदेह है कि 'ध्यान' की विवेचना करने वाली इस कृति में ध्यान का समग्र विषय संक्षेप रूप से प्रस्तुत हो गया है। इसकी विशेषता है कि आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल चारों ध्यानों के स्वरूप, भेद, कारण, लेश्याएँ स्वामी आदि का व्याख्यान है। समग्र विवेचित विषय वस्तु को संस्कृत प्राकृत विद्या निष्णात मुनि श्री आदित्य सागर महाराज ने नब्बे पृष्ठीय प्रस्तावना में भी उपस्थित कर दी है। झाणज्झयण पाहुड की प्रतिपाद्य सामग्री का अन्य ध्यान विषयक ग्रंथों में वर्णित ध्यान सामग्री से तुलनात्मक प्रस्तुति अनुवादक के द्वारा अथवा प्रस्तावना लेखक के द्वारा करना एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। मुनि श्री ज्ञानार्णव, तत्त्वसार, नियमसार, तिलोयपण्णत्ति, तत्त्वार्थसूत्र, भगवती आराधना एवं धवल में वर्णित ध्यान प्रकरण के साथ झाणज्झयण में वर्णित विषयवस्तु के साथ प्रस्तुत है। सर्वप्रथम ग्रंथ में ध्यान का लक्षण है–

जं थिर–मज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता।। –झाण. पाहुड–2

जो स्थिर अध्यवसाय है अर्थात् एकाग्रचिंता निरोध रूप ज्ञान की पर्याय है उसको ध्यान जानो और जो अस्थिर चित्त है वह ध्यान भावना अथवा अनुप्रेक्षा अथवा चिंता होती है।

इस ध्यान लक्षण की विशेषता है कि इसमें ज्ञान की पर्याय को ध्यान संज्ञा दी है जबकि सभी जगह चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही ध्यान कहा गया है। ध्यान के साथ अनुप्रेक्षा को परिभाषित करना विशेष है।

आर्त्तध्यान के स्वामी अन्य ग्रंथों के समान अविरत, देशविरत और प्रमत्त गुणस्थानवर्ती को कहा है।[1] किन्तु लेश्याएँ कापोत नील कृष्ण ही मानी हैं जबकि सर्वार्थसिद्धिकार ने प्रमत्त गुणस्थान में छहों लेश्याएँ स्वीकार की[2] हैं।

प्रमत्त मुनि को आर्त्तध्यान मानकर भी निराकरण करना आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, जैसा कि उन्होंने कहा है–

मज्झत्थस्स दु मुणिणो, सकम्म–परिणामजणिदं मेयंति।
वत्थुस्सहावचिंतण–परस्स सम्मं सहंतस्स।।
कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारयप्प–सावज्जं।
तवसंजम–पडियारं, च सेविओ धम्ममणिदाणं।। –झाण. पाहुड/11–12

मुनि राग और द्वेष के मध्य में स्थित होता है इसलिए रोगादि की वेदना को स्व–कर्म जनित मानते हैं। इस प्रकार वस्तु स्वभाव के चिंतन में तत्पर होते हुए उसे समतापूर्वक भलीभाँति सहता है तथा जो साधु प्रशस्त आलंबन का आश्रय लेकर उक्त वेदना का अल्प सावद्य युक्त प्रतीकार करता है तथा संयम तप रूप प्रतीकार का सेवन करता है, उसके निदान रहित धर्म्यध्यान ही रहता है न कि आर्त्तध्यान। यह संगति तत्त्वानुशासन ज्ञानार्णव आदि से होती है। आर्त्तध्यान यद्यपि अशुभ लेश्याओं के सद्भाव में ही होता है

1. झाणज्झयण पाहुड–14, 2. सर्वार्थसिद्धि

किन्तु पञ्चम षष्ठ गुणस्थानों में जो आर्त्तध्यान संभव है वह शुभ लेश्याओं के अवलम्बन से ही होता है। इसमें क्षायोपशमिक भाव की अवस्था रहती है। इस ग्रंथ में रौद्र–ध्यान का वर्णन अन्य ग्रन्थों से मेल खाता है। हाँ, रौद्र ध्यान के जो दोष– उत्सभ दोष, बहुल दोष, नानाविध दोष, आभरण दोष वर्णित हैं वे अन्य आचार्यों ने वर्णित नहीं किये हैं। रौद्र ध्यान के लिंग की चर्चा योग्य है।

धर्म्यध्यान की चर्चा झाणज्झयण पाहुड में विस्तार से है और महत्त्वपूर्ण है धर्म्य शुक्ल मोक्ष के कारण होने से इनका विवेचन तो साङ्गोपाङ्ग होना चाहिए। इसमें जो भिन्नता है, वह दृष्टव्य है–

सव्व–पमाद–विरहिदा, मुणिओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो णाणधणा, धम्मज्झाणस्स णिद्दिट्ठा।। –झाण.पाहुड 63

जो मुनि सर्व प्रमाद से रहित हैं, उपशांत अथवा क्षीणमोही हैं, वे ज्ञान धन वाले श्रमण वस्तुस्वरूप धर्म्यध्यान के ध्याता सर्वज्ञदेव के द्वारा कहे गए हैं।

झाणज्झयण पाहुड धर्म्यध्यान के ध्याता के विषय में जो कहा गया है वह अन्य ध्यान विषयक ग्रंथों में अप्राप्य है। यहाँ उपशांत मोह और क्षीण मोह ग्यारहवें बारहवें गुणस्थान में धर्म्यध्यान माना है। उपशांतमोह और क्षीणमोह गुणस्थान वाले धर्म्यध्यान के ध्याता कहना अन्य शास्त्रों से संगति नहीं है क्योंकि उमास्वामी पूज्यपाद अकलंक देव विद्यानंदी आदि आचार्यों ने अविरत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त गुणस्थान (चौथे से सातवें) तक के व्यक्तियों को धर्म्यध्यान का स्वामी बताया है। धर्म्यध्यान सविकल्पावस्था और निर्विकल्पावस्था में होता है। सविकल्प धर्म्यध्यान चौथे से छठे गुणस्थान तक होता है। सविकल्प धर्म्यध्यान में मन विषयों से हटकर पञ्च परमेष्ठी के चिंतन में लगता है। वस्तु के स्वरूप का विचार करता है। भक्ति की प्रधानता रहती है। अतः प्रमत्त गुणस्थान तक उपचार से ध्यान कहा गया है। इन्हें साक्षात् धर्म्यध्यान की सिद्धि न हो पर धर्म भावना रूप आज्ञाविचय या अपायविचय धर्म्यध्यान होते हैं। इन्हीं की अपेक्षा अविरत सम्यग्दृष्टि और देशव्रती को धर्म्यध्यान कहा गया है। गृहस्थावस्था की आपदा रूपी महान कीचड़ में जिनकी बुद्धि फँसी हुई है तथा जो प्रचुरता से बढ़े हुए रागरूपी ज्वर के यंत्र से पीड़ित हैं उन्हें धर्म्यध्यान असंभव है जैसा कि शुभचंद्र आचार्य कहते हैं–

खपुष्पमथवा शृङ्गं, खरस्यापि प्रतीयते।
न पुनर्देश कालेऽपि, ध्यान सिद्धिर्गृहाश्रमे।। –ज्ञानार्णव

आकाश के पुष्प और गधे के सींग नहीं होते हैं। कदाचित् किसी देश व काल में इनके होने की प्रतीति हो सकती है, परंतु गृहस्थाश्रम में ध्यान की सिद्धि होना तो किसी देश व काल में संभव नहीं है।

निर्विकल्प धर्म्यध्यान अर्थात् मुख्य धर्म्यध्यान अप्रमत्त गुणस्थान वाले साधक के ही होता है। आचार्य श्री वीरसेना स्वामी का भिन्न मत है। उनके अनुसार दसवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान होता है। उनका मत है कि मोह का सर्वोपशम करना धर्म्यध्यान का फल है क्योंकि कषाय सहित धर्म्यध्यानी के सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान के अंतिम समय मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना देखी जाती है। मोहनीय का विनाश करना धर्म्यध्यान का ही

फल है क्योंकि 10वें गुणस्थान के अंतिम समय में उसका विनाश देखा जाता है। (ध.पु. 13 पृ. 81)

झाणज्झयण पाहुड में ज्ञानार्णव आदि ध्यान विषयक ग्रंथों और धवल से भी भिन्नता है। वहाँ तो उपशांतमोह क्षीणमोही ज्ञानघन वाले श्रमण धर्म्यध्यान में लीन कहे गए हैं। यह विषय विचारणीय है क्योंकि परवर्ती परम्परा से मेल नहीं खाता है।

वीरसेन स्वामी ने पृथक्त्व वितर्क वीचार और एकत्व वितर्क वीचार शुक्लध्यान उपशांतमोह और क्षीणमोह में कहा है किंतु धर्म्यध्यान इनमें नहीं माना। झाणज्झयण पाहुड इनमें धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान दोनों का कथन करते हैं–

ए एच्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थ संघयणा।
दोण्णि सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो।। –झाण. पाहुड 64

उपशांतमोही और क्षीणमोही धर्म्यध्यान के ध्याता जो सुप्रशस्त संहनन वाले तथा पूर्वधर श्रुतकेवली होती हैं वे प्रथम दो शुक्लध्यान के ध्याता हैं। अंतिम दो शुक्लध्यान से युक्त सयोगकेवली अयोगकेवली होते हैं।

झाणज्झयण पाहुड के रचयिता धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान के ध्याताओं को पृथक् नहीं वर्णित कर सके। कुछ भ्रम प्रतीत होता है। इन्हें सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान तक तो धर्म्यध्यान का कथन करना चाहिए था और उपशांत मोह तथा क्षीण मोह में प्रथम दो शुक्लध्यान को स्वीकार करना चाहिए था।

झाणज्झयण पाहुड में वर्णित ध्यान विषयक विषय वस्तु को परवर्ती आचार्यों ने स्वीकार की है। जैसे धर्म्यध्यान के अंतरंग बहिरंग चिह्नों को जो झाणज्झयण पाहुड में प्रस्तुत किया है उन्हीं चिह्नों को आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में कुछ अंतर के साथ वर्णित है। जैसे झाणज्झयण पाहुड में ध्यान के चिह्न इस प्रकार कहे हैं–

आगम उवएसणा, णिसग्गओ जं जिणप्पणीदाणं।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं।।
जिणसाहु गुणक्कित्तण, पसंसणा विणयदाण–संपण्णो।
सुदसील–संजमरदो, धम्मज्झाणी मुणेदव्वो।। –झाण. पाहुड 67/68

आगम, उपदेश और जिज्ञासा के अनुसार निसर्ग रूप से जो जिन भगवान के द्वारा प्रज्ञप्त पदार्थों का श्रद्धान होना ये धर्म्यध्यान के अंतरंग परिचायक हेतु हैं। जो जिनसाधु और उनके गुणों का कीर्तन, प्रशंसा, विनय करता हो तथा दान सम्पन्नता श्रुत, शील व संयम में रत हो उसे धर्म्यध्यानी जानना चाहिए अर्थात् ये धर्म्यध्यान के बाह्य चिह्न हैं।

आदिपुराण में भी कहा है– प्रसन्नचित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभ योग रखना, सुशास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना, आज्ञा तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष श्रद्धा उत्पन्न होना ये धर्म्यध्यान के बाह्य चिह्न हैं। अनुप्रेक्षाएँ व अनेक प्रकार की शुभ भावनाएँ उसके अंतरंग लिंग हैं। अवसन्नादि प्रसन्नता

आदि बाह्य चिह्न हैं।

धर्म ध्यान के योग्य आलम्बन का उदाहरण पूर्वक जो झाणज्झयण में प्रस्तुति है, उसी के अनुसार धवल ग्रंथ में भी वर्णन है–

विसयेहि समारोहदि, दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
अत्तादिकयालंबो, तह झाणवरं समारुहदि॥ –झाण. पाहुड 43

जैसे कोई पुरुष नसैनी आदि नाना दृढ़ आलंबन के द्वारा विषय रूप द्रव्यों से ऊपर चढ़ जाता है वैसे ही आत्म द्रव्य आदि छह द्रव्यों के स्वरूप चिंतन रूप आलम्बन से ध्याता उत्तम ध्यान में आरोहण करता है। इसी प्रकार धवल में कहा है–

विसयं हि समारोहइ, दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
सुत्तादिकमालंवो, तह झाणवरं समारुहइ॥ –धवल पु. 1/पृ. 67

जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी आदि दृढ़ द्रव्य के अवलम्बन से विषय भूमि पर भी आरोह करता है उसी प्रकार धर्मध्यान का ध्याता भी सूत्र आदि के आलम्बन से उत्तम ध्यान पर आरोहण करता है और वह ध्यान की सिद्धि को प्राप्त भी हो जाता है।

धर्मध्यान के जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत इन चार भेदों की चर्चा झाणज्झयण पाहुड में नहीं की गई है, हाँ आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थान ये भेद धर्मध्यान के बताए गए हैं। धारणाओं का वर्णन भी झाणज्झयण पाहुड में नहीं है। अन्य अनेक विशेषताओं से संबंधित यह पाहुड ग्रंथ है। इसमें संसार सागर से तरने के उपाय बताए गए हैं जो अन्यत्र ध्यान के प्रकरण में नहीं मिलते हैं। आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी इस झाणज्झयण पाहुड में लिखते हैं– संसार समुद्र से भले प्रकार से तैराने में तारने में समर्थ जिसका सम्यग्दर्शन रूप अमूल्य सुकारण है, सम्यग्ज्ञान रूप जिसका कर्णधार है तथा श्रेष्ठ चारित्र से युक्त जिसका महापोत है अर्थात् महान नाव है, संवर कृत जिसमें निश्छिद्रता है। जिसमें तप रूपी पवन से बढ़ा हुआ नमस्कार के जाप रूप बड़ा भारी वेग है तथा जो वैराग्य के मार्ग की ओर बढ़ रहा है तथा विमार्ग गमन अर्थात् कुश्रुत की लहरों से/तरंगों से होने वाले क्षोभ जिसके मार्ग में नहीं है तथा श्रमण रूपी वणिक उसमें आरूढ़ होते हैं तथा जो महा अर्धशील के भेदरूप रत्नों से परिपूर्ण हैं। इसलिए वह निर्वाणपुर को बाधा रहित होते हुए शीघ्र ही प्राप्त करते हैं और रत्नत्रय के विनियोग से युक्त ऐकान्तिक निराबाध स्वाभाविक निरूपम और अक्षय सुख को वहाँ वे जीव प्राप्त करते हैं। बहुत अधिक कहने से क्या? सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा गया है। वह सर्वनय समूह मय है अर्थात् सर्वनय समूह का विषय है। अतः समय के सद्भाव को अर्थात् स्याद्वाद से आत्म सिद्धांत के सद्भाव को ही ध्याना चाहिये।[1]

1. झाणज्झयण पाहुड 58 से 62 तक

धर्म्यध्यान की विशद विवेचना के साथ शुक्लध्यान और उसके भेदों का संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत कृति में है। शुक्लध्यान से मनोयोग निरोध के क्रम को सुंदर ढंग से उदाहरण सहित वर्णित किया है। शुक्लध्यान से योग निरोध का सुंदर दृष्टांत अन्यत्र नहीं है जैसा झाणज्झयण पाहुड में वर्णित किया है–

तोयमिव णालियाए तत्ता य सभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा जोग जलं झाणाणलेण।। –झाण. पाहुड 75

जिस प्रकार नालिका का जल अथवा तपे हुए लोह पात्र के मध्य में स्थित जल वाष्प बनकर क्रम से कम हो जाता है, उसी प्रकार क्रमशः योगरूपी जल को ध्यान रूपी अग्नि से कम किया जाता है।

शुक्लध्यान के तीन भेदों में तो शुक्ल लेश्या होती है। चतुर्थ भेद लेश्यातीत होता है। शुक्लध्यान का फल निर्वाण की प्राप्ति है। ध्यानाग्नि से कर्मों को भस्म किया जाता है।

ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यान का फल झाणज्झयण पाहुड में विशेष रूप से प्रतिपादित है। उतना अच्छी तरह से अन्य ध्यान विषयक ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता है। यह ग्रंथ ध्यान विवेचन का प्रथम ग्रंथ है। इसमें सामान्य रूप से ध्यानों की विवेचना प्रासंगिक और क्रमबद्ध रूप से होने के कारण ग्रंथ अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। सभी के लिए स्वाध्यायार्थ प्रयोजनीभूत है।

अर्धमागधी प्राकृत भाषा का आश्रय है इसलिए भगवान महावीर की वाणी की निकटता समझ आती है। ग्रंथ नाना विशेषताओं से संवलित है। **ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ पर शोधात्मक वृत्ति से प्रस्तावना प्राकृत भाषाविद प्रज्ञा प्रतिभा के धनी श्रमण मुनि आदित्यसागरजी ने लिखकर ग्रंथ की उपादेयता को सहस्त्रगुणित बना दिया।** मुनि श्री ने ही गाथाओं को अनुवादित और प्रत्येक गाथा के भाव को भावार्थ रूप में स्पष्ट कर इस झाणज्झयण की महत्ता और लोकप्रियता बढ़ा दी। यह पाहुड ध्यान के निरूपण करने वाला महत्त्वपूर्ण लघु ग्रंथ है। इसका सभी स्वाध्यायी अधिक से अधिक अध्ययन कर अपना ज्ञानवर्धन करें और आत्मकल्याण करें।

अंत में मैं मुनि श्री आदित्यसागर जी के अध्यवसाय की भूरि–भूरि प्रशंसा करता हूँ। प्रतिष्ठाचार्य श्री सनतकुमार विनोदकुमार जैन को सम्पादन कार्य करने एवं इस दुर्लभ कृति को सुलभ कराने के निमित्त धन्यवाद देता हूँ।

झाणज्झयण पाहुड : एक अनुपम कृति

पं. सनतकुमार विनोदकुमार जैन
रजवांस, सागर (म.प्र.)

झाणज्झयण पाहुड ध्यान विषयक अनुपम कृति है। ध्यान तप है, कर्म निर्जरा का उत्कृष्ट हेतु है, मोक्ष मार्ग में ध्यान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधक को लक्ष्य प्राप्ति ध्यान के माध्यम से ही होती है। ध्यान के स्वरूप को जाने विना साधना, आराधना, आत्म कल्याण और आत्म शोधन का प्रारंभ ही नहीं होता है।

ध्यान वह अग्नि है जिससे कर्म ईंधन को जलाया जा सकता है। ध्यान तप से तपाकर आत्मा को विशुद्ध किया जा सकता है। अतः ध्यान जितना महत्त्वपूर्ण है, ध्यान का कथन, अध्ययन, अध्यापन, विवेचन आदि उतना ही आवश्यक है। आचार्य प्रवर कुन्दकुन्द स्वामी ने ध्यानाध्ययन प्राभृत नामक ग्रन्थ की रचनाकर जैनागम साहित्य का संवर्धन तो किया ही है साथ ही मोक्षमार्गी भव्यात्माओं का दिशा निर्देश भी किया है।

प्राकृत भाषा की 105 गाथाओं में निबद्ध इस ग्रन्थ की टीका श्रमणमुनि श्री आदित्यसागर जी महाराज ने पूर्ण मनोयोग से की है। आपने 55 पृष्ठीय ग्रन्थ की 90 पृष्ठ में प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ, ग्रन्थकार, ग्रन्थ की विषय वस्तु और ग्रन्थ के गाम्भीर्य को प्रदर्शित कर विषय का विस्तार, समीक्षा, तुलनात्मक विवेचन, विषय का स्पष्टीकरण एवं भाषा के शौष्ठव को व्यक्त कर ग्रन्थ की सद्स्थापना की है। आपने इसमें अनेक लेखकों के दावों का खण्डनकर समालोचकों के तर्कों का सम्यक् समाधान कर निर्बाध रूप से आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की ही कृति सिद्ध की है।

मुझे संवत् 2023 की प्रकाशित कृति प्राप्त हुई थी जिसमें क्षुल्लक सिद्धसागर ने मूल गाथाओं को उद्धृत किया जिसमें सर्व प्रथम अह झाणज्झयणं कुन्दकुन्दाइरियविरइयं और मुख्य पृष्ठ पर आचार्य कुन्दकुन्द विरचित लिखा है। इसके अतिरिक्त श्रमणमुनि श्री आदित्य सागर जी महाराज ने ग्रन्थ की भाषा, व्याकरण, आदि के आधार पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी प्रणीत अन्य ग्रन्थों की भाषा, व्याकरण, मंगलाचरण और कथन पद्धति के आधार पर इस कृति को आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की कृति सिद्ध किया जो तर्क की कसौटी पर भी खरी उतरती है। मुनिश्री ने अनेक समीचीन तर्कों के आधार पर अन्य कर्ताओं के दावों को नकार दिया है, जो सम्यक् भी है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का समय निर्धारित करते हुए श्रमणमुनि श्री आदित्य सागर जी महाराज ने अनेक लेखकों शोधकर्ताओं के प्रमाण प्रस्तुत कर काल निर्धारण के अनेक तर्क दिए हैं। अन्त में उहापोह के उपरान्त आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी को अब से दो हजार वर्ष पूर्व के स्वीकार किया है जो विचारणीय है यथा-

भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण 527 ईसा पूर्व हुआ। इनके बाद गौतम स्वामी 12 वर्षों तक केवलीपद प्राप्त कर धर्म प्रचार किया। इसके पश्चात 12 वर्षों तक सुधर्माचार्य और 38 वर्षों तक जम्बूस्वामी केवली रहे। इसके उपरान्त ज्ञान का भी ह्रास होना प्रारंभ हो गया था।

इस प्रकार इन केवलज्ञानियों ने बासठ वर्षों तक ज्ञान ज्योति प्रकाशित की। आगे श्रुतकेवली 100 वर्ष, दशपूर्वधारी 183 वर्ष, एकादशांगधारी 183 वर्ष, दशांगज्ञाता 97 वर्ष, एकांगधारी 118 वर्ष तक हुए।

यथा- भगवान महावीर स्वामी का निर्वाण 527 ईसापूर्व।

62 वर्ष केवली रहे-

गौतम स्वामी 12 वर्ष 515 ईसापूर्व

सुधर्माचार्य 12 वर्ष 503 ईसापूर्व

जम्बूस्वामी 38 वर्ष 465 ईसापूर्व

100 श्रुतकेवली रहे-

विष्णु 14 वर्ष 451 ईसापूर्व

नन्दिमित्र 16 वर्ष 435 ईसापूर्व

अपराजित 22 वर्ष 413

ईसापूर्व गोवर्धन 19 वर्ष 394 ईसापूर्व

भद्रबाहु 29 वर्ष 365 ईसापूर्व

183 वर्ष दशपूर्वधारी रहे-

विशाखचार्य 10 वर्ष 355 ईसापूर्व

प्रोष्ठिलाचार्य 19 वर्ष 336 ईसापूर्व

क्षत्रियाचार्य 17 वर्ष 319 ईसापूर्व

जयसेनाचार्य 21 वर्ष 298 ईसापूर्व

नागसेनाचार्य 18 वर्ष 280 ईसापूर्व

सिद्धार्थाचार्य 17 वर्ष 263 ईसापूर्व

धृतिसेनाचार्य 18 वर्ष 245 ईसापूर्व

विजयाचार्य 13 वर्ष 232 ईसापूर्व

बुद्धिलिंगाचार्य 20 वर्ष 212 ईसापूर्व

देवाचार्य 14 वर्ष 198 ईसापूर्व

धर्मसेनाचार्य 16 वर्ष 182 ईसापूर्व

123 वर्ष एकदशांगधारी रहे-

नक्षत्राचार्य 18 वर्ष 164 ईसापूर्व

जयपालाचार्य 20 वर्ष 144 ईसापूर्व

पाण्डवाचार्य 39 वर्ष 105 ईसापूर्व

ध्रुवसेनाचार्य 14 वर्ष 91 ईसापूर्व

कंसाचार्य 32 वर्ष। 59 ईसापूर्व

शुभचन्द्राचार्य 6 वर्ष 53 ईसापूर्व

यशोभद्राचार्य 18 वर्ष 35 ईसापूर्व

भद्रबाहु द्वितीय 23 वर्ष 12 ईसापूर्व

लोहाचार्य 12 ईसापूर्व दशांगधारी रहे।[1]

लोहाचार्य 12 ईसापूर्व के शिष्य-

गुणधर ईसा शताब्दी प्रथम पाद

अर्हद्बली आचार्य ईस्वी सन् 38-48

धरसेनाचार्य ईस्वी सन् 38-106

पुष्पदन्ताचार्य ईस्वी सन् 66-106

भूतबली आचार्य ईस्वी सन् 66-156। आचार्य जिनचन्द्र ईस्वी सन् 87-127

आचार्य कुन्दकुन्द ईस्वी सन् 127-179[2] इस प्रकार अंग परम्परा का क्रम रहा।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय निर्धारण में दो मत प्राप्त होते है एक मत ईसा की प्रथम शताब्दी, दूसरा ईसा की द्वितीय शताब्दी। जो शोध का विषय है। भद्रबाहु स्वामी की परम्परा में गुणधर नामक मुनि हुए। उनको ज्ञान प्रवाद पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार में तीसरे प्राभृत का ज्ञान था। आपने कषाय प्राभृत नामक आगम ग्रन्थ की रचना की।

धरसेनाचार्य को अग्रायणी पूर्व के पांचवें वस्तु अधिकार में महाकर्म प्रकृति नामक चौथे प्राभृत का ज्ञान था। इन्होंने यह प्राभृत पुष्पदन्त और भूतवलि नाम के मुनियों को पढ़ाया। इन मुनिराजों ने षट्खण्डागम सूत्र की रचना की। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कसाय प्राभृत और षट्खणागम के ज्ञाता थे।

आचार्य इन्द्रनन्दि ने श्रुतावतार में कहा है-

श्रीपद्मनन्दिमुनिना सो पि द्वादशसहस्त्रपरिणामः।।
ग्रन्थ परिकर्म कर्त्रा षटखण्डाद्यत्रिखण्डस्य।।161।।[3]

इस प्रकार द्रव्य भावरूप पुस्तक में दो प्रकार का सिद्धान्त गुरु परिपाटी से कुण्डकुन्दपुर में पद्मनन्दि मुनि द्वारा जाना गया है।

श्रुतधर आचार्यों में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इन की गणना ऐसे युग संस्थापक आचार्य के रूप में की गई है, जिनके नाम से उत्तरवर्ती परम्परा कुन्दकुन्द-आम्नाय के नाम से प्रसिद्ध हुई। आपने शुद्ध द्रव्यार्थिकनय से अध्यात्म का कथन किया है। आपकी प्रमाणिकता सर्वमान्य है।

मूल परम्परा संपोषक आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी-

नन्दिसंघ की पट्टावली के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के गुरु जिनचन्द्र स्वामी थे। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने भद्रबाहु को अपना गमक गुरु माना है।

सद्दवियारो हूओ भासा सुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्ददबाहुस्स।।61।।
वारस अंग वियाणं चउदस पुव्वंगविउल वित्थरणं।
सुयाणिभद्दबाहू गमयगुरुभयवओ जयओ।।62।।[4] -बोध पाहुड

शब्द विकार रूप परिणत भाषा सूत्रों में जिनेन्द्र भगवान ने जो कहा था भद्रबाहु के शिष्य ने वैसा ही कह तथा जाना है। जो द्वादशांग के ज्ञान से युक्त थे, जिन्होंने चैदह पूर्वों का अत्यन्त विस्तार किया था तथा जो गमकों के गुरु थे। वे भगवान श्रुतज्ञानी भद्रबाहु जयवन्त हों।

श्रवणबेलगोला के अभिलेखों से इस तथ्य को पुष्ट किया जा सकता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त के साथ दक्षिण भारत गये थे और वहाँ श्रवणबेलगोला स्थान में समाधिमरण किया था।

अतः दक्षिण में भद्रबाहु की परम्परा का अस्तित्व सिद्ध होता है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी मूल संघ के आचार्य और दक्षिण भारत के निवासी थे। अतः उन्हें श्रुतकेवली भद्रबाहु की परम्परा प्राप्त हुई थी। इसी कारण आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने उन्हें गमकगुरु कहा है। गमक गुरु अर्थात प्रेरणा या परम्परा गुरु।[5] पट्टावली के अनुसार इनके गुरु का नाम जिनचन्द्र और दादा गुरु का नाम माघनन्दि है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने समयसार के मंगलाचरण में कहा है कि-

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिडमो सुयकेवली भडियं।।1।।[6]

अर्थात ध्रुव, अचल और अनुपम विशेषणों से युक्त गति को प्राप्त हुए सर्व सिद्धों को नमस्कार करके मैं श्रुतकेवली द्वारा उपदिष्ट समयप्राभृत का कथन करूँगा।

श्रवणबेलगोला के शक संवत 1085 (1163 ईस्वी) के शिलालेख में भी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी को श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य के अन्वय में उत्पन्न बतलाया गया है।

365 ईसापूर्व श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए और आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ईस्वीसन् 127-179 में हुए इनमें लगभग 500 वर्ष का अन्तराल होने पर भी आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने मूल संघ की परम्परा का अनुसरण किया।

मूलसंघ का विघटन-

भगवान महावीर निर्वाण के पश्चात गौतमगणधर से लेकर अर्हद्बली आचार्य तक मूलसंघ अविच्छिन्न रूप से चलता रहा। आचार्य अर्हद्बली ने पंचवर्षीय युग प्रतिक्रमण के अवसर पर महिमानगर जिला सतारा में एक महान यतिसम्मेलन किया जिसमें सौ योजन तक के साधु सम्मिलित हुए। उस समय उन साधुओं में अपने-अपने शिष्यों के प्रति कुछ पक्षपात दिखा जिससे उन्होंने मूलसंघ की सत्ता समाप्त करके पृथक-पृथक नामों वाले अनेक संघों में विभाजित कर दिया। जिसमें कुछ के नाम इस प्रकार हैं-

1. नन्दिसंघ 2. वृषभसंघ 3. सिंहसंघ 4. देवसंघ 5. काष्ठासंघ 6. वीरसंघ 7. अपराजितसंघ 8. पंचस्तूपसंघ 9. सेनसंघ 10. भद्रसंघ 11. गुणधरसंघ 12. गुप्तसंघ 13. चन्द्रसंघ।[7]

इसके अतिरिक्त और अनेक संघ भी भिन्न-भिन्न समयों पर परिस्थितिवश उत्पन्न होते रहे। धीरे-धीरे इनमें से कुछ संघों में शिथिलाचार आता चला गया, जिनके कारण वे जैनाभासी कहलाने लगे।कुछ प्रसिद्ध नाम इस प्रकार हैं- 1. श्वेताम्बर 2. गोपुच्छ या काष्ठासंघ 3. द्रविड़संघ 4. यापनीय या गोप्यसंघ 5. निष्पिच्छ या माथुरसंघ आदि।[8]

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी आम्नाय-

भगवान महावीर निर्वाण के लगभग पाँच सौ वर्ष पश्चात अर्हद्बली आचार्य के समय मूलसंघ का विघटन हुआ और संघ भेद हो गये। अर्हद्बली आचार्य से लगभग दो सौ वर्ष बाद आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी

हुए। इन दो सौ वर्ष में अनेक संघ शिथिलाचारी हो गये। श्वेताम्बर संघ अपने उत्कर्ष पर था केवलीकवलाहार, सवस्त्रमुक्ति, स्त्रीमुक्ति आदि अनेक विपरीत सिद्धान्तों का प्रचार प्रारंभ होने लगा था। अनेक संघ इनसे प्रभावित होकर दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मतों का समर्थन करने लगे थे। ऐसे विपरीत काल में मूल परम्परा और जैनाभासी परम्परानुयायी संघों का भेद नहीं समझ पाते थे अतः मूलसंघ के सिद्धान्तों के संपोषक और आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की परम्परा का अनुसरण करने वाले संघ कुन्दकुन्दाम्नाय वाले कहलाने लगे।

अन्वय/आम्नाय-

अनुगमन, अनुगामी, जाति, कुल, वंश, अन्वय है। अपनी जाति को न छोड़ते हुए उसी रूप से अवस्थित रहना अन्वय है। सम्प्रदाय, परम्परा, प्रचलन, कुल या राष्ट्र प्रथाएँ, आम्नाय है। अन्वय का प्रयोग प्रायः गृहस्थ संबंधी जातियों को किया जाता है जैसे- गोलापूर्वान्वय, परवारान्वय, खण्डेलान्वय आदि एवं आम्नाय का प्रयोग साधु संघ की परम्पराओं के लिए किया जाता है जैसे- कुन्दकुन्दाम्नाय आदि ऐसा उल्लेख प्रतिमा प्रशस्ति और शिलालेखों में देखा जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में अनेक संघों की विविध मान्यताओं के बीच मूलसंघ की मान्यता भी गतिमान थी किन्तु उन में सामंजस्य की कमी आती जा रही थी। परस्पर में विसंवाद भी उत्पन्न होने लगे थे।

उस काल में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के अन्य विपरीत मान्यता वाले संघों से वाद-विवाद एवं शास्त्रार्थ हुए। दिगम्बर परम्परा और मूलसंघ की विजय हुई। मूल संघ की परम्परा में रहने वालों ने कुन्दकुन्द आचार्य की मान्यताओं परम्पराओं का समर्थन किया एवं उनके पक्ष की पहचान के लिए कुन्दकुन्दाम्नाय प्रारंभ हुई। भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी तक किसी प्रकार के विसंवाद नहीं हुए। स्त्रीमुक्ति का निषेध सर्व प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने ही किया। तब विसंवाद की स्थिति बनी।

सचेल मुक्ति के प्रसंग-

श्वेताम्बर परम्परा के उत्तराध्ययन सूत्र के अन्तिम अध्ययन में स्त्री की तद्भव मुक्ति का स्पष्ट उल्लेख है। यापनीय परम्परा में भी उश्रराध्ययन की मान्यता थी। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे ईस्वी पूर्व तृतीय से ई. पू. प्रथमशती की रचना माना है। इसकी अपेक्षा किंचित परवर्ती श्वेताम्बर मान्य आगम ज्ञाता धर्म कथा के मल्लिनामक अध्याय में तथा अन्तकृद्दशांग के अनेक अध्यायों में स्त्री मुक्ति का उल्लेख है।[9]

आगमिक व्याख्या आवश्यक चूर्णि (सातवीं शती) में भी मरुदेवी की मुक्ति का उल्लेख पाया जाता है।[10]

ई.पू. से लेकर ईसा की सातवीं शती तक की श्वेताम्बर परम्परा के आगमिक ग्रन्थों में स्त्री मुक्ति के निर्देश मिलते हैं। फिर भी उनमें कहीं भी स्त्री मुक्ति की तार्किक सिद्धी का कोई प्रयत्न नहीं देखा गया है। इसकी आवश्यकता तो तब होती जब किसी ने इसका विरोध किया होता, स्त्री मुक्ति का निषेध आचार्य

कुन्दकुन्द के पूर्व किसी आचार्य ने नहीं किया। आचार्य कुन्दकुन्द ने सर्व प्रथम सूत्र पाहुड़ में (सवस्त्र) सचेल मुक्ति का निषेध किया है।

ण वि सिज्झइ वत्थधरो जिणसासणे जइ वि होई तित्थयरो।
णग्गो विमोक्खमग्गो सेसा उम्मग्गया सव्वे।।23।।[11] -सूत्र पाहुडु

जिन शासन में कहा है कि वस्त्रधारी पुरुष सिद्धि को प्राप्त नहीं होता भले ही वह तीर्थंकर भी क्यों न हो। नग्न वेष ही मोक्षमार्ग है शेष सब उन्मार्ग हैं, अर्थात मिथ्या मार्ग हैं। इन्हीं विषयों पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के श्वेताम्बरों से वाद-विवाद शास्त्रार्थ हुए।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी और श्वेताम्बरों से वाद-विवाद-

दिगम्बर-श्वेताम्बर के वाद-विवाद के उल्लेख प्राप्त होते हैं। श्री शुभचन्द्राचार्य ने पाण्डव पुराण में लिखा है कि कुन्दकुन्दगणी ने उर्ज्जयन्तगिरि पर अपने प्रभाव से पाषाण निर्मित सरस्वती को शास्त्रार्थकत्री बना दिया था। यथा-

कुन्दकुन्दगणी येनोर्ज्जयन्तगिरिमस्तके।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ।।[12]

जिन्होंने कलिकाल में उर्ज्जयन्तगिरि के मस्तक पर पाषण निर्मित ब्राह्मी की मूर्ति को बुलवा दिया। इसी तरह का उल्लेख शुभचन्द्र की गुर्वावलि के अन्त में निबद्ध दो श्लोकों में भी है।

पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कारगणाग्रणी।
पाषणघटिता येन वादिता श्री सरस्वती।।
उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सरस्वतोऽवभवत्।
अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्री पद्मनन्दिने।।

बलात्कारगणाग्रणी पद्नन्दी गुरु हुए। जिन्होंने गिरनार पर्वत पर पाषाण निर्मित सरस्वती की मूर्ति को वाचाल कर दिया था। उससे सारस्वत गच्छ हुआ।

कवि वृन्दावन कृत मंगलाष्टक में उल्लेख से भी ज्ञात होता है कि

संघसहित श्री कुन्दकुन्दगुरु वन्दन हेत गये गिरनार।
वाद परयो तहँ संशयमतिसों साक्षी वदी अंबिकाकार।
सत्य पंथ निर्ग्रन्थ दिगम्बर कही सुरी तहँ प्रकट पुकार।
सो गुरुदेव बसो उर मेरे विघन हरण मंगल करतार।।1।।[13]

कुन्दकुन्दस्वामी संघ सहित गिरनार यात्रा के लिए गये। वहाँ उन दिनों श्वेतामबरों का संघ ठहरा हुआ था। दोनों संघों में वाद-विवाद हुआ और उनकी मध्यस्ता अम्बिका देवी ने की, उसने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ पंथ ही सच्चा है। श्री नाथूराम प्रेमी ने तीर्थों के झगड़ों पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार शीर्षक निबन्ध में बताया है कि गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरों के बीच विवाद हुआ जिसका

उल्लेख धर्मसागर उपाध्याय ने किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के समय श्वेताम्बर संघ एवं अनेक जैनाभासी संघों का प्रभाव था। मूल संघ/परम्परा के पोषक आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का इन संघों से समन्वय नहीं होता था। जिन साधु संघों, श्रमणों, श्रावकों ने आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के आचार, सिद्धान्त एवं परम्परा का अनुसरण किया, वे कुन्दकुन्दाम्नाय से जाने जाते थे। मंगलाचरण का यह छन्द प्रचलन में आया।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।

दिगम्बर परम्परा में इसका प्रचलन आज भी है। श्वेताम्बर परम्परा में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के स्थान पर स्थूलभद्राचार्य को प्रमुख माना है।

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं स्थूलभद्रार्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।

विचारणीय विषय यह है कि स्थूलभद्राचार्य लगभग अन्तिम श्रुत केवली भद्रबाहुस्वामी के समकालीन रहे है। स्थूलभद्राचार्य और आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी में लगभग पांच सौ वर्ष का अन्तर है। हम इस निष्कषपर पहुंचते हैं कि भगवान महावीर स्वामी के पश्चात मूलसंघीय परम्परायें गतिमान थी किन्तु बारह वर्षीय दुर्भिक्ष के उपरान्त होने वाले मतभेद के कारण सिद्धान्तों पर भेद होने के कारण जो परम्परा प्रारंभ हुई वह श्वेताम्बर कहलाये। इस परम्परा ने स्थूलभद्र को प्रमुख मान लिया।

जो भगवान महावीर स्वामी की मूल परम्परा से अलग हुये उन्हें अपनी पहचान बनाने के लिए स्थूलभद्र को प्रमुख बनाया। भद्रबाहुस्वामी की परम्परा मूलसंघीय परम्परा थी अतः उन्हें किसी को प्रमुख बनाने की आवश्यकता नहीं हुई। किन्तु जब जैनाभासी संघों का प्रभाव बढ़ने लगा, आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने इन से शास्त्रार्थ किये। मूलसंघीय परम्पराओं को ही श्रेष्ठता प्रदान की। तब मूलसंघीय परम्पराओं के संपोषक संघों की पहचान आचार्य कुन्दकुन्द से होने लगी। अतः मंगलाचरण का यह छन्द प्रचलन में आया जो आज भी उतना ही प्रासांगिक है।

यह विषय इसलिए भी विचारणीय है कि भले ही भद्रबाहुस्वामी की आम्नाय में ही आचार्य कुन्दकुन्द हुए हो परन्तु भद्रबाहुस्वामी की आम्नाय के उद्घोष की आवश्यकता नहीं हुई। मात्र आचार्य कुन्दकुन्द ने उन्हें अपना परम्परा या गमक गुरु स्वीकार किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय में ऐसी परिस्थितियां थी कि उनके परवर्ती आचार्यों को कुन्दकुन्दाम्नाय का उद्घोष करना पड़ा। आचार्य कुन्दकुन्द के पहले और बाद के किसी आचार्य की आम्नाय का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। अतः कहीं भगवान महावीर स्वामी और गौतम स्वामी के बाद और कहीं भगवान महावीर स्वामी के बाद आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के नाम का उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा कथन कत्तिले बस्ती के द्वार से दक्षिण की ओर एक स्तम्भ पर लगभग शक संवत् 1022 के शिलालेख पर इस प्रकार मिलता है-

श्रीमतो वर्द्धमानस्य वर्द्धमानस्य शासने।

श्री कोण्डकुन्द-नामाभून्मूलसंघाग्रणी गणी।।3।।[14]

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद आठवीं-नवमीं शताब्दी में विकट परिस्थिति के समय और लगभग चौदहवीं से अठारहवीं शताब्दी में मुगलकाल के समय एवं उन्नीसवीं शताब्दी में मुनि परम्परा में पुनः चेतना लाने वाले आचार्य शान्तिसागर महाराज ने या यह कहें कि उनके नाम से किसी आम्नाय का प्रारंभ नहीं हुआ। इक्कीसवीं सदी में कोई नवीन आम्नाय या परम्परा का उद्घोष करे तो वह शोध का विषय हो सकता है। आचार्य कुन्दकुन्द से आज तक कुन्दकुन्दाम्नाय ही सर्व मान्य है।

आचार्य कुन्दकुन्द की प्रमुख रचनाएँ-

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने चौरासी पाहुड ग्रन्थों की रचना की है। इसमें कुछ पाहुडों के ही नाम प्राप्त होते हैं।

1-उपलब्ध कृतियां- 1.पंचत्थिकाय 2. समयपाहुड 3. पवयणसार 4. णियमसार 5. अट्ठपाहुड दंसणपाहुड, चारित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड, मोक्ख सीलपाहुड तथा लिंगपाहुड 6. बारसाणुवेक्खा 7. झाणज्झयण पाहुड और भत्तिसंगहो सिद्ध सुद चारित्त जोइ आइरिय णिव्वाण पंचगुरु तथा तित्थयरभत्ति आदि। इनके अतिरिक्त रयणसार को भी आपकी कृति माना है।

2-अनुपलब्ध कृतियां-1. आचारपाहुड 2. आलापपाहुड 3. अंगपाहुड 4. आराहणापाहुड 5. बंधपाहुड 6. बुद्धि या बोधिपाहुड 7. चरणपाहुड 8. चूलियापाहुड 9. चूर्णिपाहुड 10. दिव्वपाहुड 11. द्रव्यपाहुड 12. दृष्टिपाहुड 13. इयन्तपाहुड 14. जीवपाहुड 15. जोणिपाहुड 16. कर्मविपाकपाहुड 17. कर्मपाहुड 18. क्रियासारपाहुड 19. क्षपणासार या क्षपणपाहुड 20. लब्धिपाहुड 21. लोयपाहुड 22. नयपाहुड 23. नित्यपाहुड 24. नोकम्मपाहुड 25. पंचवर्गपाहुड 26. पयड्डपाहुड 27. पयपाहुड 28. प्रकृतिपाहुड 29. प्रमाणपाहुड 30. सलमीपाहुड 31. संठाणपाहुड 32. समवायपाहुड 33. षट्दंसणपाहुड 34. सिद्धांतपाहुड 35. सिक्खापाहुड 36. स्थाणपाहुड 37.तत्वपाहुड 38. तोयपाहुड 39. ओघतपाहुड 40. उत्पादपाहुड 41. विद्यापाहुड 42. वस्तुपाहुड 43. विहयपाहुड। प्रवचनसार। अग्रेजी भूमिका पृष्ठ 25 सम्पादक डॉ. ए. एन. उपाध्ये 44. नामकम्मपाहुड 45. योगसारपाहुड 46. नितायपाहुड 47. उद्योतपाहुड 48. शिखापाहुड 49. ऐयन्नपाहुड।[15]

पाहुड-

जम्हा पदेहि पुदं तम्हा पाहुडं।

अर्थात् जो पदों से स्फुट हो उसे पाहुड कहते हैं।[16]

प्रकृष्टेन तीर्थंकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्।

प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्वद्याविक्तवद्भिराभृतं

धारितं ध्याख्यात मानीतमिति वा प्राभृतम्।

जो प्रकृष्ट अर्थात् तीर्थंकर के द्वारा प्राभृत अथवा प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है या जिनका

विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्यों के द्वारा जो धारण अथवा व्याख्यान किया गया है अथवा परम्परा रूप से लाया गया है वह प्राभृत है।[17]

इन प्राभृत में झाणज्झयण प्राभृत का विशेष स्थान है। इसकी टीका के साथ श्रमण मुनिश्री आदित्यसागर जी महाराज ने प्रस्तावना में ग्रन्थ के विषय का शोधपरक विस्तृत वर्णन किया है। जिससे विषय स्पष्ट तो हुआ ही है, साथ अनेक रहस्यों का उद्घाटन भी हुआ है जो विविध आयामों को स्थापित करने में सहायक होगा।

आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान, शुक्लध्यान की भावना, ध्यान का परिकर्म, धर्मध्यान का काल, आसन विशेष, धर्मध्यान के आलंबन, धर्मध्यान के क्रम, ध्येय, भेद, आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय, संस्थान विचय धर्मध्यान के ध्याता, धर्मध्यान में अनुप्रेक्षा, धर्मध्यानी की लेश्या, धर्मध्यानी के लिंग, धर्मध्यान का फल, शुक्लध्यान का आलंबन, क्रम, ध्येय, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग, फल इन बिन्दुओं के आधार पर विषय का प्रतिपादन किया गया है।

झाणज्झयण प्राभृत में वर्णित ध्यान के विषय को श्रमण मुनि में अन्य आगम ग्रन्थों में उल्लिखित ध्यान के स्वरूप का तुलनात्मक विवेचना की है। जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना, तत्त्वार्थ सूत्र, धवला जी, आदि पुराण, ध्यानोपदेश कोष, ज्ञानार्णव आदि ध्यान विषयक ग्रन्थों के ध्यान प्रकरण का झाणज्झयण प्राभृत में कथित ध्यान की तुलनात्मक और समीक्षात्मक विवेचना कर विषय का स्पष्टीकरण किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने तत्त्वार्थ सार में तप के प्रकरण में ध्यान का विस्तृत वर्णन किया है।

आर्तं रौद्रं च धर्म्यं च शुक्लं चेति चतुर्विधम्, ध्यान मुक्तं परम तत्र तपोंगमुभयं भवेत।।35।।

आर्त, रौद्र, धर्म्य, और शुक्ल के भेद से ध्यान चार प्रकार का कहा गया है। इनमें अन्त के दो ध्यान तप के अंग हैं।

इसमें आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने अन्त के दो ध्यानों को तप का अंग कहा है और झाणज्झयण पाहुड में अन्त के दो ध्यानों को निर्वाण सुख साधन कहा है और आर्त, रौद्र ध्यान को संसार परिभ्रमण का कारण कहा है। तत्वार्थसार में अति चिन्ता का किसी एक पदार्थ में रुक जाना ध्यान कहा हैं जो अन्तर्मुहूर्त तक उत्तम संहनन वाले जीव के होता है।

झाणज्झयण पाहुड में एकाग्र चिन्ता निरोध रूप ज्ञान की पर्याय को ध्यान कहा है। तत्वार्थसार में आर्त, रौद्र ध्यान का स्वरूप और भेद एक साथ बताये हैं जबकि धर्म और शुक्ल ध्यान के चार चार भेदों के स्वरूप को अलग अलग श्लोकों में कथन किया है।

झाणज्झयण पाहुड और तत्त्वार्थसार में वर्णित धर्म एवं शुक्ल ध्यान में कुछ अन्तर भी देखा गया है। जैसे- आज्ञाविचय धर्मध्यान में झाणज्झयण पाहुड में कहा गया है कि सर्वज्ञ प्रतिपादित मत ही सत्यार्थ है ऐसा चिन्तन करें और तत्त्वार्थसार में कहा है कि सर्वज्ञ भगवान की आज्ञा को प्रमाण मानकर गहन सूक्ष्म

दूरवर्ती पदार्थों का निर्धारण करना आज्ञा विचय धर्म ध्यान है। इस प्रकार शब्दों का अन्तर देखा जाता है।

इस ग्रन्थ के टीकाकार श्रमणमुनि आदित्यसागर जी महाराज ने संस्कारधानी धर्मनगरी जबलपुर में 24 मई 1986 को श्री राजेशकुमार जैन की भार्या श्रीमती वीणा ती की कुक्षी से जन्म लिया। माता पिता के सुसंस्कारों से संस्कारित होकर 8 नबम्वर 2011 को मंगलगिरि जैनतीर्थ पर अध्यात्मयोगी आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज से जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की।

आप निरन्तर आगम ग्रन्थों का अध्ययन, मनन, चिन्तन करते हैं। श्रुत के प्रति आपका जीवन समर्पित है। आपने हिन्दी, प्राकृत, अंग्रेजी, कन्नड़, संस्कृत, अपभ्रंश, हाड़े कन्नड़, तमिल, तेलगु, आदि सोलह भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया है। आप निरन्तर शोध खोज के कार्य में संलग्न रहते हैं।

आपके अन्दर जहां सीख्ने की प्रबल भावना है वहीं जिनवाणी के गूढ़ रहस्यों खोलने, खोजने की ललक भी है। परिणामतः 2018 के भगवान बाहुबली महामस्तकाभिषेक श्रवणवेलगोला प्रवास में कन्नड़ भाषा में लिपिबद्ध ग्रन्थों को पढ़ने की भावना हुई। गुरु आज्ञा प्राप्त कर विपरीत परिस्थितियों में कन्नड़ हाड़ कन्नड़ का ज्ञान प्राप्त किया। अनेक ताड़पत्रीयग्रन्थों को संकलित कर अध्ययन कर रहे हैं इससे कुछ अप्रकाशित ग्रन्थ भी प्राप्त हुए है।

आपने उत्तर भारत आकर युवक युवतियों को कन्नड़ भाषा सिखाई है जिससे शताधिक युवा कन्नड़ लिपि के ग्रन्थों के अनुवाद में सहयोग कर रहे हैं। इस प्रकार से श्रमण मुनि आदित्यसागर जी महाराज जैनागम साहित्य भण्डार को संवर्धित तो कर ही रहे हैं साथ ही कन्नड़ भाषा एवं लिपि को पढ़ाकर आगामी काल में अनेक ग्रन्थों को हिन्दी संस्कृत में लिप्यान्तर कर जन जन का बना रहे हैं। आपका यह कार्य स्वपर कल्याण कारक है।

सन्दर्भ-

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृष्ठ 18-19
2. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग1 पृष्ठ 328
3. श्रुतावतार 161
4. बोध पाहुड गाथा 62
5. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा पृष्ठ 18-19
6. समयसार मंगलाचरण गाथा 1
7. धवला पु.1 पृ 14
8. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1 पृ 316
9. ज्ञाताधर्मकथा अष्टम अध्ययन, अन्तकृद्दशा वर्ग आठ के सभी अध्ययन
10. आवश्यक चूर्णि भाग 1 पृ. 181 एवं भाग 2 पृ. 121
11. सूत्र पाहुड
12. पाण्डव पुराण
13 मंगलाष्टक कविवर वृन्द्रावन कृत
14. जैन शिलालेख संग्रह के पृष्ठ 202
15. संयम प्रकाश पृष्ठ 453
16. कसाय पाहुड भाग 1 चूर्णिसूत्र रचयिता आचार्य यतिवृषभ स्वामी।
17. कसाय पाहुड भाग 1 जयधवला रचयिता आचार्य वीरसेन स्वामी।

झाणज्झयण पाहुड समीक्षा के आलोक में

● **डॉ. धर्मेन्द्र कुमार जैन**

विकास अधिकारी प्राकृत

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, दिल्ली

जिनागम में अनुवाद भी एक कला मानी गई है। जो ग्रंथ के हार्द को प्रकट कर सके वही सही अनुवाद माना जाता है। शब्दानुवाद के साथ भाव भी स्पष्ट होना चाहिए। यही द्योतित होता है झाणज्झयण ग्रंथ को देखने पर। ग्रंथ बहुत ही लघु काय है किंतु इसका प्रमेय विशाल है। प्रमेय की औदार्यता है। **पूज्य मुनि श्री आदित्यसागर जी एक श्रुतसेवी श्रमण हैं** और आपने ही इस ग्रंथ का अनुवाद किया है। अनुवाद के पूर्व पूज्य मुनि श्री ने इस ग्रंथ में प्रस्तावना लिखी है। इस प्रस्तावना से ही अनुवाद पद्धति का ज्ञान हो जाता है क्योंकि पूज्य श्री ने ग्रंथ के प्रमेय से ज्यादा प्रमेय प्रस्तावना में दिया है। ग्रंथ की प्रस्तावना को अक्षरशः पढ़ने के बाद प्रो. ए.एन. उपाध्येय, प्रो. हीरालाल जैन, डॉ. नेमीचंद शास्त्री जैसे उद्भट विद्वानों का स्मरण हो आता है। उन विद्वानों का कार्य आज के युग में आदर्श माना जाता है। उसी आदर्श का अनुपालन पूज्य मुनि श्री ने किया है।

इस ग्रंथ की प्रस्तावना वास्तव में एक अनुसंधान का महाप्रमेय है। इस प्रस्तावना से पूज्य श्री को डी–लिट् की उपाधि से देखा जाए तो भी अतिन्यून होगा। प्रस्तावना में महाराज श्री ने प्रारंभ से लेकर सर्वाधिक पक्ष प्रस्तुत किये हैं। पूज्य मुनि श्री ने ग्रंथस्थ उपलब्ध साक्ष्यों से ही ग्रंथ का नाम सिद्ध किया है। मंगलाचरण एवं प्रशस्ति ही ग्रंथ के नामकरण को नितरां सिद्ध करती है। इस प्रकार सप्रमाण मुनि श्री ने इसमें सिद्ध किया है जैसे प्रतिज्ञा वाक्य में **जोईसरं सरण्णं झाणज्झयणं पवक्खामि–**आदि। मूल ग्रंथ प्राप्ति का इतिहास सप्रमाण मुनि श्री ने प्रस्तावना में स्पष्ट किया है।

ग्रंथ की भाषा शौरसेनी महाराष्ट्री है, ऐसा पूज्य मुनि श्री ने कहा है तथा शौरसेनी की व्याकरणिक विशेषताएँ भी यहाँ प्रस्तावना में मुनि श्री ने विस्तार से वर्णित की हैं। ग्रंथकर्ता का समीक्षण पूज्य मुनि श्री ने तर्क, प्रमाण, युक्तिपूर्वक किया है, जो प्राचीन विद्वानों का परिश्रम स्मरण कराता है। प्राचीन विद्वानों के अनेक तर्क भी ग्रंथकर्ता सिद्ध करते हुए मुनि श्री ने दिए हैं। उन विद्वानों में पं. श्री सागरमल जी, पं. श्री बालचंद जी आदि प्रमुख हैं। यह ग्रंथ शुद्ध रूप से दिगंबर परंपरा का है, इस पर भी पूज्य मुनि श्री ने पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला है। आचार्य कुंदकुंद इस ग्रंथ के विशुद्ध रूप से कर्ता हैं, ऐसा प्रमाण और इतिहास द्वारा सिद्ध करते हुए पूज्य मुनि श्री ने उनका विस्तृत परिचय प्रस्तावना में दिया है। ग्रंथकर्ता के परिचय को भी इतिहास के झरोखे में विस्तृत रूप से मुनि श्री ने प्रदान किया है। आगे बात आती है ग्रंथ

प्रमेय की तो पूज्य मुनि श्री ने इस ग्रंथ के प्रमेय को बहुत पक्षों द्वारा प्रस्तावना में प्रस्तुत किया है, जो मुनि श्री का एक महनीय एवं स्तुत्य कार्य है।

ग्रंथ का मूल प्रमेय है ध्यान। ध्यान के भेद और उनका स्वरूप, लक्षण, परिभाषाएँ आदि। आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान का स्वरूप, धर्मध्यान का स्वरूप, भावना, काल, आसन, आलंबन, क्रम, देश, ध्येय, भेद, ध्याता आदि दृष्टियों से इस विषय को झाणज्झयण पाहुड के संदर्भों से नितरां सिद्ध किया है।

तदनंतर पूज्य मुनि श्री ने शुक्लध्यान का भी उपर्युक्त पद्धति से ही इस प्रस्तावना में विस्तृत विवेचन किया है। उसके बाद ध्यान की उपयोगिता को ग्रंथस्थ गाथाओं से प्रमाणित किया है। ध्यान मुक्ति का कारण है, ध्यान से कर्मक्षय होते हैं। जैसे वस्त्र का मैल जल से साफ होता है, वैसे ही आत्मा ध्यान से पवित्र होता है। जैसे लोहे का जंग आग से दूर होता है, वैसे ही आत्मा के कर्म ध्यान के माध्यम से दूर होते हैं। जैसे पृथ्वी का कीचड़ भास्कर द्वारा सुखाया जाता है वैसे ही ध्यान कर्म पंक को सुखा देता है, इत्यादि अनेक उदाहरणों के माध्यम से ध्यान के मूलभूत महत्त्व को पूज्य मुनि श्री ने प्रदर्शित किया है/समझाया है/सुनिश्चित किया है। पूज्य मुनि श्री ने इस ग्रंथ की प्रस्तावना में इस विषय को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है एवं महत्त्व को प्रदर्शित किया है जिससे इस महान् ग्रंथ की महत्ता बढ़ सके। (गाथा 95–105)

झाणज्झयण ग्रंथ की प्रस्तावना में परम पूज्य मुनि श्री ने तुलनात्मक वर्णन किया है, जिससे झाणज्झयण ग्रंथ का महत्त्व बहुगुणित हो गया है। यह तुलनात्मक वर्णन प्राचीन ग्रंथों के साथ ऐतिहासिक क्रमानुसार यहाँ प्रस्तुत किया है। इस तुलनात्मक विवेचन में झाणज्झयण पाहुड की विशेषता को विशेष रूप से दर्शाया गया है जो विशेषता इतर ग्रंथों में प्राप्त नहीं होती है। इस तुलनात्मक विवेचन में मूलाचार, तिलोयपण्णत्ति, भगवती–आराधना, तत्त्वार्थसूत्र, धवला, आदिपुराण, ध्यानोपदेश कोष, ज्ञानार्णव ग्रंथ प्रमुख है। इस ग्रंथ की प्रस्तावना इतनी विशाल है कि मूल विषय से प्रस्तावना का प्रमेय मूल से बहुत अधिक हो गया है।

शोधात्मक इस प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि पूज्य मुनि श्री प्रकांड ज्ञानमनीषी तथा बहुग्रंथ अध्येता महाशय हैं। निरंतर स्वाध्यायशील एवं अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी व्यक्तित्व ही ऐसी महाविशाल शोधपरक प्रस्तावना लिख सकते हैं। ग्रंथ के प्रमेय को सहज बनाने के लिए पूज्य मुनि श्री ने सुव्यवस्थित विषय अनुक्रमणिका तैयार की है। गाथाओं को अन्वयार्थ क्रम–क्रम से शब्दानुसार सटीक तथा सुव्यवस्थित किया है, फिर गाथार्थ दिया है।

सम्पूर्ण ग्रंथ में अनुवाद करते समय सर्वत्र पाठान्तर भी दिए हैं, इससे लगता है कि पूज्य महाराज श्री ने न केवल अनुवाद किया है किंतु व्यवस्थित तरीके से पूर्ण ग्रंथ का संपादन किया है। पाठांतर में पूज्य महाराज श्री ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि जो अर्थ उचित है, प्रासंगिक है, मूल विषय को पुष्ट करता है, व्याकरण से शुद्ध है, उस पाठ को ऊपर मूल में दिया है और जो दूसरा पाठ है, उसको नीचे टिप्पणी में दिया है। यह बात एक उदाहरण द्वारा यहाँ पर स्पष्ट हो जाएगी। जैसे गाथा नं. 2 में चलंतयं और चलत्तयं है। इसमें चलंतयं पाठ ठीक है। इसे मूल में दिया है। टिप्पणी में चलत्तयं दिया है। सर्वत्र

ग्रंथ में इस प्रकार मुनि श्री ने इसी पद्धति का अनुसरण करके संपादन कार्य में वैदुष्य प्रकट किया है। अनुवाद के समय प्रत्येक गाथाओं का विषय यथास्थान शीर्षक के रूप में दिया है, जिससे ग्रंथ के मूलभूत विषय को पूर्वापर संगति के साथ समझा जाता है अथवा समझने में आसानी हो जाती है।

अनुवाद पूर्ण होने के बाद महाराज श्री ने प्रशस्ति प्राकृत भाषा में लिखी है जो स्वयं उनकी रचना है। यह पूज्य श्री का विशेष्य वैदुष्य है। अंत में **परिशिष्ट–1** में संपूर्ण ग्रंथ का पद्यानुवाद दिया है जो पूज्यश्री सिद्धसागरजी द्वारा रचित है। यह पद्यानुवाद सरस तथा बोधगम्य एवं रोचक, मनोहारी, कर्णप्रिय है। **परिशिष्ट–2** में गाथा–अनुक्रमणिका को अकारादि क्रम से दिया गया है। **परिशिष्ट–3** में सभी गाथाएँ एकसाथ क्रमानुसार दी है जिससे गाथाओं का पाठ करने में आसानी हो जाती है। **परिशिष्ट–4** में ग्रंथगत परिभाषा सूक्तियों से ग्रंथ का महत्त्व तथा सर्वोपयोगिता वृद्धिगत हो जाती है।

अंतिम **परिशिष्ट–5** में झाणज्झयण पाहुड ग्रंथ की गाथागत सभी शब्दों को वर्णमाला क्रम से (प्राकृत भाषा में) दिया गया है। इस परिशिष्ट से तो संपूर्ण ग्रंथ का महत्त्व सहस्र गुना बढ़ गया है। ग्रंथ को भाषा के माध्यम से समझने में सरलता इस परिशिष्ट द्वारा हो गई है।

उपर्युक्त पाँचों परिशिष्टों से झाणज्झयण पाहुड ग्रंथ को सर्वविध अपेक्षा समझने में अत्यंत सरलता हो गई है। पूज्य मुनि श्री ने इस लघु काय ग्रंथ को एक विशालकाय ग्रंथ बना दिया है। महाराज श्री की इस कर्मठता एवं अप्रतिम मेधा से यह ग्रंथ सर्व जन बोधगम्य एवं लोकप्रिय होगा, ऐसी हमें आशा और विश्वास है। इस ग्रंथ में पूज्य श्री ने जो यह परिश्रम किया है वह सभी अध्येताओं, शोधकर्ताओं, अनुवादकों, संपादकों के लिए एक आदर्श दर्पण है। शोध, अनुवाद, संपादन कैसे करना चाहिए, इस बात का ज्ञान झाणज्झयण ग्रंथ की प्रस्तावना एवं अनुवाद से सीखने के लिए मिलेगा। अनुसंधान जगत में पूज्य मुनि श्री का यह कार्य महा–आदर्श एवं प्रेरणा के रूप में सिद्ध होगा।

मैं व्यक्तिशः इस ग्रंथ का संपादन अनुवाद आदि आद्यंत देखने के बाद पूज्य मुनि श्री के प्रति नतमस्तक हूँ। अभिभूत हूँ/अत्यंत प्रभावित हूँ। साधना के साथ पूज्य मुनि श्री इस प्रकार निरंतर ज्ञान आराधना भी करते रहते हैं। सतत अध्ययन एवं स्वाध्यायशील साधक व्यक्ति ही इस प्रकार का अनुवाद और संपादन कार्य आदि कर सकता है। परम पूज्य मुनि श्री आदित्यसागर जी महाराज अपने नाम के अनुरूप अन्वर्थ संज्ञा को सार्थक करते हुए आदित्य–सूर्य की तरह ज्ञान की किरणों द्वारा जैनधर्म की प्रभावना कर रहे हैं। पूज्य मुनि श्री द्वारा इस प्रकार का कार्य होता रहे, ऐसी अपेक्षा, कामना, भावना और प्रार्थना है। झाणज्झयण पाहुड का इस प्रकार का सर्वांगीण अनुवाद सर्वोपयोगी बनकर धर्मध्यान का अवश्य ही कारण बनेगा। लोगों का ज्ञान के प्रति उत्साहवर्धन भी होगा। इस कार्य से आम जनता–श्रावक लोगों को शुभोपयोग द्वारा पुण्य की प्राप्ति होगी और मोक्षमार्ग में लगे रहेंगे।

अंत में पूज्य मुनि श्री के चरणों में नमोस्तु करता हूँ और आपके सतत क्षयोपशम की वृद्धि की कामना करता हूँ कि आप सदैव इसी प्रकार जिनवाणी माँ की प्रभावना करते रहें।

॥ इत्यलं ॥

विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ
♦ प्रस्तावना	24
♦ मंगलाचरण व प्रतिज्ञा	85
♦ ध्यान का लक्षण	85
♦ ध्यान का काल व स्वामी	85
♦ ध्यान के पश्चात् ध्यानान्तर या ध्यान संतति	86
♦ ध्यान के भेद और फल	86
♦ अनिष्ट वियोग चिंतन आर्त्त ध्यान	87
♦ अप्रशस्त वेदना चिंतन आर्त्त ध्यान	87
♦ इष्ट वियोग चिंतन आर्त्तध्यान	87
♦ निदान चिंतन आर्त्तध्यान	88
♦ आर्त्तध्यान का कारण और परिणाम	88
♦ मुनि के आर्त्तध्यान की सम्भावना एवं निराकरण	89
♦ आर्त्तध्यान संसार का बीज	89
♦ आर्त्तध्यानी की लेश्याएँ	90
♦ आर्त्तध्यानी के चिह्न	90
♦ आर्त्तध्यानी के अन्य चिह्न	90
♦ आर्त्तध्यान के स्वामी	91
♦ हिंसानंद रौद्रध्यान	91
♦ मृषानन्द रौद्रध्यान	92
♦ स्तेयानंद/चौर्यानंद रौद्र ध्यान	92
♦ विषय संरक्षणानंद रौद्र ध्यान	93

	पृष्ठ
♦ रौद्रध्यान के स्वामी	93
♦ रौद्रध्यान के कारण और परिणाम	93
♦ रौद्रध्यानी की लेश्याएँ	94
♦ रौद्रध्यान के दोष	94
♦ रौद्रध्यानी के लिंग	94
♦ धर्मध्यान के प्ररूपक द्वादश द्वार	95
♦ धर्मध्यान के योग्य भावनाएँ	95
♦ ज्ञानभावना का स्वरूप व गुण	96
♦ दर्शन भावना का स्वरूप व गुण	96
♦ चारित्रभावना का स्वरूप व गुण	97
♦ वैराग्यभावना का स्वरूप व गुण	97
♦ धर्मध्यान के योग्य देश	97
♦ धर्मध्यान के योग्य देश	98
♦ धर्मध्यान के योग्य अन्य देश	98
♦ धर्मध्यान के योग्य काल	99
♦ धर्मध्यान के योग्य आसन	99
♦ धर्मध्यान के लिए योग समाधान की अनिवार्यता	100
♦ धर्मध्यान के योग्य आलम्बन	100
♦ धर्मध्यान के योग्य अन्यालंबन	100
♦ धर्मध्यान व शुक्लध्यान निग्रह क्रम	101
♦ आज्ञाविचय धर्मध्यान	102

	पृष्ठ
♦ आज्ञा विचय धर्मध्यान	102
♦ जिन का स्वरूप	103
♦ अपायविचय धर्मध्यान	104
♦ विपाकविचय धर्मध्यान	104
♦ संस्थानविचय धर्मध्यान	105
♦ संसार सागर से तरने के उपाय, श्रेष्ठ ध्यातव्य स्वतत्त्व तथा ध्यातव्य का उपसंहार	106
♦ धर्मध्यान के ध्याता	108
♦ शुक्लध्यान के ध्याता	108
♦ धर्मध्यान के असद्भाव में अनुप्रेक्षा	109
♦ धर्मध्यानी की लेश्याएँ	109
♦ धर्मध्यानी के अंतरंग लिंग	110
♦ धर्मध्यानी के बाह्य लिंग	110
♦ शुक्लध्यान के आलंबन	110
♦ क्रमप्राप्त ध्यान का विकास	111
♦ शुक्लध्यान से मनोयोग निरोध के क्रम की प्ररूपणा	111
♦ शुक्लध्यान से मनोयोग निरोध के क्रम की प्ररूपणा	112
♦ शुक्लध्यान से योग निरोध का दृष्टान्त	112
♦ वचन व काय निरोध से शैलेशी केवली	113
♦ पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्ल ध्यान	113
♦ एकत्व–वितर्क शुक्लध्यान	114
♦ सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान	114
♦ व्युच्छिन्न–क्रिया–अप्रतिपाति शुक्लध्यान	115

	पृष्ठ
♦ शुक्लध्यान के स्वामी	115
♦ मन के अभाव में केवलियों के ध्यान	115
♦ पूर्व प्रयोगादि की अपेक्षा से अयोगी के ध्यान	116
♦ शुक्लध्यान के असद्भाव में अनुप्रेक्षा	116
♦ अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप	117
♦ शुक्लध्यान में लेश्याएँ	117
♦ शुक्लध्यान के लिंग	117
♦ शुक्लध्यान के लिंगों का स्वरूप	118
♦ धर्मध्यान का फल	119
♦ शुक्लध्यानों का फल	119
♦ धर्म–शुक्ल ध्यान का फल निर्वाण	119
♦ ध्यान मोक्ष का हेतु	120
♦ ध्यान अनल से कर्म कलंक का दहन	120
♦ ध्यान नियम से कर्मक्षय का हेतु	121
♦ कर्म रोगों का शमन ध्यान से	121
♦ ध्यानाग्नि से कर्मेंधन का दहन	121
♦ ध्यान से कर्ममेघों का विलीनिकरण	122
♦ ध्यान के महात्म्य	122
♦ ध्यान के अन्य महात्म्य	123
♦ उपसंहार में ध्यान का महत्त्व	123
♦ प्रशस्ति	124
♦ परिशिष्ट–1: गाथानुक्रमणिका	125
♦ परिशिष्ट–2: दोहानुवाद	127
♦ परिशिष्ट–3: ग्रंथपाठ	135
♦ परिशिष्ट–4: कतिपय परिभाषा कोश	143
♦ परिशिष्ट–5: झाणज्झयण–पाहुड–शब्दकोष	145

प्रस्तावना

वंदे सुद्धप्पाणं, केवलादि णंत–वर–गुण–सहावं।
वंदामि कुंदकुंदं, पाहुडगंथस्स कत्तारं।।1।।
वचिसुद्धी वच्चस्सी, वत्थुं णय–पमाणेहि सिज्जंति।
णमोत्थुसासण मिट्ठं, विसुद्ध–गणहरं अभिवंदे।।2।।
सिरि कुंदकुंद पणिदं, गंथरायं झाणज्झयण–सारं।
णिव्वाणुवलद्धीए, सदद सददमेव वंदे हं।।3।।

केवलज्ञान, केवलदर्शन आदि अनंतश्रेष्ठ गुण स्वभावी शुद्धात्माओं के लिए नमस्कार हो। चौरासी पाहुड ग्रंथों के कर्त्ता आचार्य कुंदकुंद देव को वंदन करता हूँ।

जो अपनी तार्किक प्रज्ञा से प्रश्नों के उत्तर देने में प्रवीण हैं, वचन शुद्धि से रहित हैं, नय–प्रमाण के द्वारा वस्तु की सिद्धि करते हैं तथा नमोस्तुशासन जिनको इष्ट है, ऐसे गणनायक आचार्य विशुद्ध–देव को नमस्कार करता हूँ।

निःश्रेयस सुख की प्राप्ति के लिए श्रीमद् कुंद–कुंद देव प्रणीत ग्रंथराज ध्यानाध्ययन सार की मैं सतत ही, नित्य ही वंदना करता हूँ।

ग्रन्थ का नाम

मंगलाचरण के माध्यम से ही ग्रन्थ का नाम स्पष्ट है। मंगलपद्य में कुंद–कुंद देव ने शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी ईंधन के भस्म कर देने वाले योगीश्वर व शरणभूत वीर वर्धमान स्वामी को प्रणाम करके 'ध्यानाध्ययन' के कहने की प्रतिज्ञा की है। यथा–

'जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि'।

जो एकाग्रता को प्राप्त मन है, स्थिर अध्यवसान है वह ध्यान है तथा पढ़ना, ग्रन्थ, शास्त्रादि अध्ययन के अर्थ हैं। अध्ययन शब्द से यहाँ अध्ययन के विषयभूत ग्रन्थ विशेष का अभिप्राय रहा है। तद्नुसार जिसके पढ़ने से अध्येता को ध्यान का परिचय प्राप्त होता है ऐसे ध्यान के प्रतिपादक शास्त्र का वर्णन करना ही ग्रन्थकार को अभीष्ट रहा है और उन्होंने उसी के कहने की प्रारंभ में प्रतिज्ञा की है। ग्रन्थ में प्राप्त विवेचन को देखते हुए भी यह निश्चित है कि उसमें ध्यान का ही व्यवस्थित रूप से (उद्देश्य, लक्षण और परीक्षा) वर्णन किया गया है। इसलिए **'झाणज्झयण पाहुड'** नाम सार्थक है।

इसके अलावा प्राप्त प्रति में भी प्रारम्भ व अंत में ग्रन्थ का नाम सुस्पष्ट है– यथा–

प्रारंभ में :

'अह झाणज्झयणं कुन्दकुन्दाइरियविरइयं॥

अंत में :

'सम्मत्तं झाणज्झयणं णाम पाहुडयं'॥

किन्तु मूलसंघ से पृथक् हुई श्वेतपट्ट–परंपरा में इसका नाम ध्यानशतक है जो अर्धमागधी भाषा में है। यह ध्यानशतक नाम अनुचित प्रतीत होता है। कारण कि ग्रंथकर्त्ता झाणज्झयण की प्रतिज्ञा कर रहे हैं। ध्यानशतक नाम वृत्तिकार हरिभद्र सूरि ने दिया है। किन्तु उनका यह आग्रह युक्तिसंगत नहीं लगता क्योंकि इससे ग्रंथकार कुंद–कुंददेव की प्रतिज्ञा भंग होती है। अतः झाणज्झयण नाम ही सत्यार्थ है।

ग्रन्थ की प्रतियाँ

सर्वप्रथम पंडित श्री विनोद कुमार जी (रजवाँस) के द्वारा एक प्रति प्राप्त हुई। जो सरसेठ हुकुमचंद पारमार्थिक ट्रस्ट, जबरी बाग, नशिया (इंदौर) से उन्हें प्राप्त हुई थी। क्षुल्लक 105 श्री सिद्धसागर जी की गद्यानुवाद–पद्यानुवाद सहित यह प्रति मुद्रण गलतियों से परिपूर्ण थी। परन्तु अर्थ बोध के लिए सहायक भी रही। यह प्रति सं. 2023 में (46 वर्ष पूर्व) जयपुर से छपी थी। मुद्रण कार्य जयपुर वीर प्रेस का है।

द्वितीय प्रति छायानुवाद रूप अर्धमागधी भाषा में प्राप्त हुई। यह प्रति ध्यानशतक के नाम से टीका/वृत्ति सहित प्रकाशित है। इस प्रति में ग्रन्थकर्ता का उल्लेख नहीं है तथा टीकाकार ने भी इसपर अपनी लेखनी नहीं चलाई। इस विषय में सम्पादक और प्रस्तावनाकार पं. बालचन्द्र शास्त्री ने भी कुछ स्पष्ट नहीं किया है। इस प्रति का प्रकाशन दरियागंज दिल्ली से वीर सेवा मंदिर ने किया है तथा श्री भास्करनंदि कृत ध्यानस्तव ग्रन्थ भी इसमें सम्मिलित है।

आचार्य वीरसेनस्वामी कृत धवला टीका पुस्तक 13, सूत्र 26 में ध्यान के प्रकरण में प्राप्त 47–48 गाथाएँ भी प्रति के रूप में अनुवाद में सहायक बनी।

ग्रंथ की भाषा (व्याकरण पक्ष)

झाणज्झयण पाहुड प्राकृत भाषा में निबद्ध है। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से प्राप्त है–

''प्राकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्।''

अथवा– ''प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्।''

अर्थात्– जन सामान्य की बोलचाल भाषा का नाम प्राकृत है।

विभिन्न विद्वानों ने प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण देशभेद के कारण भिन्न–भिन्न प्रकार से किया है। कोई विद्वान् इसके 4 तो कोई 5 भेद कहते हैं, तो कोई विद्वान् 6, 7 अथवा 12 भेद भी कहते हैं। सुप्रसिद्ध वैयाकरण वररुचि ने प्राकृत को महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी और पैशाची में विभक्त किया है। एक अन्य

विद्वान् ने इसे महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी और पाली में विभक्त किया है। हेमचंद्र सूरी ने महाराष्ट्री, अर्धमागधी, शौरसेनी, पैशाची और चूलिका पैशासी से प्राकृत के भेद कहे हैं। भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में प्राकृत के 7 भाग कहे– शौरसेनी, अर्धमागधी, दाक्षिणात्य, प्राच्या, आवन्ती और वाल्हीकी। संस्कृत साहित्य शास्त्री विश्वनाथ जी ने प्राकृत के 12 भेद कहे– शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, मागधी, दाक्षिणात्य, प्राच्या, आवन्ती, शाकारी, वाल्हीकी, द्राविडी, आभीरी और चाण्डाली। दिगंबराम्नाय के ग्रंथ, शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में, बौद्धाम्नाय के ग्रंथ पाली प्राकृत में तथा श्वेतांबराम्नाय के ग्रंथ अर्धमागधी में प्रायः प्राप्त होते हैं।

दिगंबराचार्य कुंदकुंदस्वामी कृत समयसार, प्रवचनसार प्रभृति ग्रंथों की भाषा शौरसेनी/महाराष्ट्री प्राकृत रही है और यही भाषा झाणज्झयण में सर्वव्याप्त हैं। सम्पूर्ण विद्वानों ने इसे दिगंबर जैनागमों की भाषा स्वीकारा है। अतः यह ग्रंथ शौरसेनी/महाराष्ट्री प्राकृत में है इसलिए दिगंबराम्नाय का है यह सहज सिद्ध है।

अन्य प्राकृत की अपेक्षा शौरसेनी भाषा की कुछ विशेषताएँ संक्षेप में यहाँ बतलाते हैं।

1. **मध्य और अंत के 'त' का 'द' होता है।** यथा–
   मारुत–मारुद, युत–जुद।
2. **संयुक्त 'त' का 'द' विकल्प से होता है।** यथा–
   महान्तः– महंदो/महंतो।
3. **'थ' का 'ध' विकल्प से होता है।** यथा–
   नाथ–णाध/णाह।
4. **'भू' का 'ह' होता है।** यथा–हुंति।
5. **'र्य' का 'य्य' विकल्प से होता है।** यथा–
   सूर्यः– सुय्यो/सुज्जो।
6. **संबोधन में 'नकारांत' का अनुसार होता है।** यथा–
   भगवन्– भगवं/भयवं, राजन्–रायं।
7. **'ख, घ, थ, ध और भ' का ह होता है।** यथा–
   मुख–मुह, अघ–अह, अथ–अह, साधु–साहु, सुलभ–सुलह
8. **'न' का 'ण' सर्वत्र होता है।** यथा–
   नमः– णमो, नाभिसुनू–णाभिसुणू।
9. **'ट' का 'ड' होता है।** यथा–
   घट–घड, पट–पड।
10. **'ठ' का 'ढ' होता है।** यथा–
   मठ–पढ, पठति–पढदि।

11. **कहीं–कहीं 'स का ह' होता है।** यथा–
दस–दह।

12. **'स, ष, श' का 'स' होता है।** यथा–
विषम–विसम, भाषा–भासा, शीश–सीस, सागर–सायर।

13. **'त्व' का 'च्च' होता है।** यथा–
कृत्वा–किच्चा।

14. **अनादि 'क, ग, च, ज, त, द' का प्रायः लोप होता है।** लोप होने पर अवशिष्ट 'अ' की 'य' श्रुति होती है। यथा– लोक–लोअ/लोय, नगरम्–णअरं/णयरं, तीर्थंकरः तित्थअरो/तित्थयरो, राग–राअ/राय, वचन–वअण/वयण, राजा–राआ/राया, श्रुत–सुअ/ सुय, सदा–सआ/सया।।

15. **लोप का प्राप्त हुए 'क', 'ग' आदि के पूर्व 'उकार' का प्रयोग होवे तो फिर 'यश्रुति' की जगह 'वश्रुति' होगी।** यथा–मनुजः–मणुवो, उदरम्–उअरं/उवरं।

16. **वर्ण के पंचम वर्णों में केवल–'ण्' और 'म्' ही पाये जाते है।** शेष पंचम वर्णों का यहाँ अभाव है।

17. **सप्तमी विभक्ति एकवचन में 'ङि' के स्थान पर 'म्हि' भी कहीं–कहीं मिलती है।** यथा–
लोक–लायम्हि, कर्मे–कम्मम्हि।।

18. **कहीं–कहीं 'त' का 'द' और 'क' का 'ग' भी हो जाता है।** यथा–
परिचिताः–परिचिदा, एकं–एगं।

19. **संस्कृत में प्राप्त 'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्यय के स्थान पर–'ऊण, ऊणं, दूण, दूणं, उं, दुं, त्तु, त्ता प्रत्यय होते हैं।** यथा–ज्ञात्वा– णाऊण, दृष्टवा–पस्सिदूण, ज्ञात्वा–जाणिदुं, वंदित्वा–वंदित्तु/वंदित्ता।

ग्रन्थकर्ता

पंडित विनोद कुमार जी (रजवांस) द्वारा प्राप्त प्रति के अनुसार झाणज्झयण पाहुड ग्रन्थ श्रीमद् कुंद–कुंद आचार्य द्वारा रचित है। कारण की वहाँ प्रारंभ में लिखा है– **'अह झाणज्झयणं– कुंदकुंदायरिय–विरइयं'**

इसके सिवाय इस प्रति में क्षुल्लक 105 सिद्धसागर कृत पद्यानुवाद में भी झाणज्झयण को कुंद–कुंद देव कृत कहा है– यथा–

कुंद कुंद आचार्य कृत, प्राभृत यह अम्लान।
सिद्ध सिन्धु इसको पढ़ो, करो आत्म कल्याण।

कुंदकुंद देव की मंगलाचरण पद्धति भी कुछ यही कहती है–

कुंद–कुंद स्वामी की अपनी एक स्वतंत्र मंगलाचरण शैली है। जिस प्रकार णियमसार, रयणसार, दंसणपाहुड, सीलपाहुड आदि प्राभृत ग्रंथों में वीर प्रभु को नमस्कार करके प्रतिज्ञा के वचन हैं उसी प्रकार

झाणज्झयण की पद्धति है। यथा–

णियमसार में कहा–

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवली भणिदं॥1॥

बारसाणुपेक्खा में कहा–

णमिऊण सव्वसिद्धे, झाणुत्तम, खविद दीह संसारे।
दस दस दो दो य जिणे, दस दो अणुपेहणं वोच्छे॥1॥

दंसणपाहुड में कहा–

काऊण णमुक्कारं, जिणवर वसहस्य वड्ढमाणस्स।
दंसणमग्गं वोच्छामि, जहाकमं समासेण॥1॥

सीलपाहुड में वीर प्रभु को नमस्कार तो किया ही है वहाँ 'पणमिऊणं' शब्द का भी प्रयोग है। यथा–

वीरं विसालणयणं, रत्तुप्पलको मलस्समप्पायं।
तिविहेण पणमिऊणं, सीलगुणाणं णिसामेह॥1॥

अब झाणज्झयण पाहुण का मंगलाचरण देखिए–

वीरं सुक्कज्झाणग्गिदड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥1॥

अपनी अन्य कृतियों में भी कुंद–कुंद देव ने इस ही पद्धति का प्रयोग किया है। अन्तर इतना है कि इनमें आगम अरहंतों और सिद्ध की वंदना करके ग्रंथ प्रतिज्ञा की है–यथा–

समयपाहुड में कहा–

वंदित्तु सव्वसिद्धे, धुवमचल मणोवमं गइं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुड, मिणमो सुयकेवली भणियं॥1॥

पंचत्थिकाय संग्रह में कहा–

समण मुहुग्गद मट्ठं, चदुग्गदि णिवारणं सणिव्वाणं।
एसो पणमिय सिरसा, समय–मिमं सुणह वोच्छामि॥2॥

भावपाहुड में कहा–

णमिऊण जिणवरिंदे, णरसुरभवणिंद वंदिए सिद्धे।
वोच्छामि भावपाहुड–मवसेसे संजदे सिरसा॥1॥

मोक्खपाहुड में कहा–

णमिऊण य तं देवं, अणंतवरणाण दंसणं सुद्धं।
वोच्छं परमप्पाणं, परमपयं परमजोईणं॥2॥

लिंगपाहुड में कहा–

काऊण णमोकारं, अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
वोच्छामि समणलिंग, पाहुडसत्थं समासेण॥1॥

रयणसार में कहा–

णमिदूण वड्ढमाणं, परमप्पाणं जिणं तिसुद्धेण।
वोच्छामि रयणसारं, सायारणयारधम्मीण॥1॥

मूलाचार में विविक्षित द्वादश अधिकारों के मंगलाचरण में भी इसी पद्धति का प्रयोग है। यथा–

मूलगुणाधिकार में कहा–

मूलगुणेसु विसुद्धे, वंदित्ता सव्वसंजदे सिरसा।
इहपरलोगहिदत्थे, मूलगुणे कित्तइस्सामि॥1॥

समाचाराधिकार में कहा–

तेलोक्क पूयणीए, अरहंते वंदिऊण तिविहेण।
वोच्छं समाचारं, समासदो आणुपुव्वीयं॥122॥

अनगारभावनाधिकार में कहा–

वंदित्तु जिणवराणं, तिहुयणजयमंगलोववेदाणं।
कंचणपियंगु विद्दुम, घणकुंदमुणालवण्णाणं॥769॥

समयसाराधिकार में कहा–

वंदित्तु देवदेवं, तिहुअणमहिदं च सव्वसिद्धाणं।
वोच्छामि समयसारं, सुण संखेवं जहावुत्तं॥894॥

शीलगुणाधिकार में कहा–

सीलागुणालयभूदे, कल्लाणविसेसपडिहेर जुदे।
वंदित्ता अरहंते, सीलगुणे कित्तेइस्सामि॥1018॥

पर्याप्त्याधिकार में कहा–

काऊण णमोक्कारं, सिद्धाणं कम्मचक्कमुक्काणं।
पज्जत्ती संगहणी, वोच्छामि जहाणुपुव्वीयं॥1044॥

पिण्डशुद्धि–अधिकार में कहा–

तिरदणपुरुगुणसिहिदे, अरहंते विदिदसयलसब्भावे।
पणमिय सिरसा वोच्छं, समासदो पिण्डसुद्धी दु॥420॥

षडावश्यकाधिकार में कहा–

काऊण णमोक्कारं, अरहंताणं तहेव सिद्धाणं।
आयरिय उवज्झाए, लोगम्मि सव्वसाहूणं॥502॥

आवासयणिज्जुत्ती, वोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरिपरंपराए, जहागदा आणुपुव्वीए॥503॥

द्वादशानुप्रेक्षाधिकार में भी कहा–

सिद्धे णमस्सिदूण य, झाणुत्तम खविय दीह संसारे।
दह दह दो दो य जिणे, दह दो अणुपेहणा वुच्छं॥693॥

अतएव झाणज्झयण की मंगलाचरण पद्धति कुंदकुंद देव की पद्धति के समान है, इसमें कोई विकल्प नहीं है।

विषयविवेचन पद्धति–

कुंदकुंद देव की वस्तु प्रतिपादन शैली 'उद्देश्य–लक्षण–परीक्षा' रूप रही है। विषय का निर्देश, स्वरूप विस्तार एवं परीक्षा रूपवचन इस शैली को 'उद्देश्य–लक्षण–परीक्षा' शैली कहते हैं। इस शैली का प्रयोग कुंद–कुंददेव के समयपाहुड, पंचत्थिकाय, णियमसार, रयणसार, बारसाणुपेक्खा आदि ग्रंथों में सर्वत्र मिलता है। झाणज्झयण पाहुड में भी यही शैली दृश्यमान है।

ध्यान व उसके भेदों का निर्देश 5 गाथाओं में है, फिर 6–95 तक 90 गाथाओं में चारों प्रकार के ध्यान के लक्षण, फूल, लिंगादि का वर्णन है, अंत की 10 गाथाओं में उदाहरण और महात्म्य के द्वारा परीक्षा की गई है।

इसके सिवाय झाणज्झयण पाहुड के मध्य में (62) जिस प्रकार की गाथा है कुछ वैसी ही गाथा नियमसारादि में भी प्राप्त होती है। यथा–

किं बहुणा भणिदेण दु, वरतवचरणा महेसिणं सव्वं।
पायच्छित्तं जाणह, अणेयकम्माण खयहेदू।।णियमसार–117॥
किं बहुणा भणिदेण दु, जा इच्छा गणधरस्स सा सव्वा।
कादव्वा तेण भवे, एसेव विधी दु सेसाणं।।मूलाचार–186॥
किं पलविएण बहुणा, जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहदि जे वि भविया, तज्जाणह तस्स माहप्पं।।बारसाणुपेक्खा–90॥
किं बहुणा हो देविंदाहिं णरिंद गणहरिंदेहिं।
पुज्जा परमप्पा जे, तं जाण पहाण सम्मगुणं।।रयणसार/147॥
किं बहुणा सव्वं चिय, जीवादि–पदत्थ–वित्थरो वेयं।
सव्व णयसमूहमयं, झाएज्जो समय सब्भावं।।झाणज्झयण/62॥

अतः झाणज्झयण पाहुड की विषय विवेचन पद्धति भी कुंदकुंद स्वामी सम प्रतीत होती है।

आचार्य कुंदकुंद की उदाहरण परक विवेचन पद्धति

आचार्य कुंदकुंद देव ने अपनी उदाहरण परक शैली का प्रयोग झाणज्झयण पाहुड में भले प्रकार से किया है। अव्युत्पन्न पुरुष भी सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु तत्त्वों को ग्रहण कर सके इस हेतु जैसे समय–पाहुड, पवयणसार, पंचत्थिकाय, णियमसार, बारसाणुपेक्खा, रयणसार, अट्ठपाहुड आदि ग्रंथों में उदाहरणों का आश्रय लिया है, वैसे ही झाणज्झयण पाहुड में भी मिलता है।

बारसाणुपेक्खा में कुंदकुंददेव ने अनित्य आदि भावनाओं को समझाने के लिए इंद्रधनुष का, जल के बुलबुले का, बिजली की चमक का, तो मेघ और क्षीर–नीर का, कई उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

रयणसार जी में लगभग 20 से अधिक गाथाएँ उदाहरण रूप में है। इस विषय में 12, 17, 25, 26, 30, 48, 71, 73, 75, 88, 106, 127, 131, 134, 151, 159, 163, 164 गाथाएँ दृष्टव्य हैं। इन गाथाओं में पतंगे, बीज, माता, कोढी, महिला, मूर्ख मनुष्य, श्लेषमा/मक्खी, श्वान, किंपाक फल इत्यादि उदाहरण प्राप्त हैं।

समयपाहुड में तो दृष्टान्त पग–पग में स्थित है। यहाँ प्रत्येक विषय को दृष्टांत पूर्वक समझाया है। धनार्थी पुरुष और राजा, समलवस्त्र–कषाय, अग्नि में संतप्त–स्वर्ण, कर्मोदय, तत्त्वज्ञानी, सर्प, अभव्यजीव इत्यादि कई उदाहरण उपलब्ध हैं। इन्हें प्रपंच के भय से नहीं कह रहे हैं क्योंकि समयपाहुड ग्रंथ जगत् प्रसिद्ध है।

नियमसार में भी सुष्टु दृष्टान्त उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ गाथा 157, 160, 171 देखिए इनमें मनुष्य को प्राप्त निधि और मनुष्य को प्राप्त ज्ञान निधि, सूर्य और केवलज्ञान आदि मधुर दृष्टांत हैं।

इसी प्रकार झाणज्झयण में ध्यान के विषय को समझाते हुए 71–75, 84, 97–102 आदि गाथाओं में वस्त्र, जल, लोह, अग्नि, पंक, सूर्य, ध्यान, कर्म, दावानल, ध्यानाग्नि, मेघ–ध्यान, मंत्र–ध्यान, मंत्र इत्यादि दृष्टांत प्राप्त होते हैं। यथा–

जह सव्व सरीरगदं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोणविज्जदि, पहाणझरमंतजोएण॥71॥
तह बादरतणु विसयं, जोगविसं झाणमंत बलजुत्तो।
अणुभागम्मि णिरुंभदि, अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो॥72॥
तोयमिव णालियाए, तत्ता य सभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा, जोगजलं झाणाणलेण॥75॥
जह छदुमत्थस्स मणो, झाणं मण्णदि सुणिच्चलो संतो।
तह केवलिणो कायो, सुणिच्चलो मण्णए झाणं॥84॥
अंबर लोह महीणं, कमसो जह मल–कलंक–पंकाणं।
सोज्झावणयण सोसे, साहेंति जलाणलादिच्चा॥97॥

तह सोज्झादि समत्था, जीववत्थलोह–मेदिणि समाणं।
झाण जलाणलसूरा, कम्ममल–कलंक–पंकाणं॥98॥

अतएव कर्त्ता के रूप में कुंदकुंद ही नजर आते हैं।

कर्त्ता पर विवाद–

पूर्वोक्त कथन से तो ये सुस्पष्ट है कि यह ग्रंथ दिगंबराचार्य कुंदकुंद स्वामी कृत ही है, फिर भी श्वेतांबर परंपरा में यह ग्रंथ ध्यानशतक के नाम से प्रचलित है तथा इसके कर्त्ता जिनभद्र क्षमाश्रमण माने जाते हैं और इस पर कुछ टीकाएँ भी उपलब्ध हैं। उनका ऐसा मानने के पीछे कारण यह है कि किन्हीं–किन्हीं प्रतियों में 106 गाथाएँ पाई जाती है। अंतिम गाथा का भाव यह है कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने यति की कर्मविशुद्धि करने वाले ध्यान के प्रकरण को एक सौ पाँच (105) गाथाओं द्वारा कहा है। यथा–

पंचुत्तरेण गाहा, सएण झाणस्स जं (यं) समक्खायं।
जिणभद्दखमासमणेहिं, कम्मविसोहीकरणं जइणो॥

परन्तु यह गाथा स्वयं ग्रंथकार के द्वारा रचित नहीं लगती बल्कि पीछे से अचौर्यत्व का अभाव करते हुए जोड़ी गई है। कारण कि झाणज्झयण की प्रथम गाथा से 105 गाथा पर्यंत सम्पूर्ण गाथाएँ आर्याछन्द (गाहा) में लिपिबद्ध हैं जिसके प्रथम–तृतीय चरण में 12 मात्राएँ तथा द्वितीय–चतुर्थ चरण में छंद में है, जिसके प्रथम–तृतीय चरण में 12–12 मात्राएँ तथा द्वितीय–चतुर्थचरण में 18–18 मात्राएँ होती हैं।

झाणज्झयण पाहुड जिनभद्र क्षमाश्रमण का ना मानने के पीछे एक कारण यह भी है कि विवेचन पद्धति भी पृथक् ही दिखती है। पं. बालचंद्रजी द्वारा अनुवादित कृति जो वीर सेवा मंदिर दिल्ली से प्रकाशित है। उसमें उन्होंने प्रस्तावना में कहा कि– "मेरे विचार में भी वह जिनभद्र क्षमाश्रमण की कृति प्रतीत नहीं होती। कारण यह कि उनके द्वारा विरचित विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्पसूत्र के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे विवक्षित ग्रंथ को प्रारम्भ करते हुए प्रवचन को प्रणाम करके ग्रंथ के कहने की प्रतिज्ञा करते हैं तथा उसे समाप्त करते हुए उनकी उपयोगिता को प्रगट करते हैं। यथा– विशेषावश्यकभाष्य के प्रारम्भ में कहा–

कतपवयणप्पणामो, वोच्छं चरण गुणसंगहं सयलं।
आवसयाणुयोगं, गुरुपदेसाणुसारेणं॥1॥

और अंत में कहा है–

सव्वाणुययोगमूलं, भासं सामाइयस्स णाऊण।
होति परिकम्मियमतो जोग्गो सेसाणुयोगस्स॥4329॥

इसी प्रकार जीतकल्पसूत्र के प्रारम्भ में कहा–

कयपवयणप्पणामो, वोच्छं पच्छित्तदाण संखेवं।
जीयव्ववहारगयं, जीयस्स विसोहणं परमं॥1॥

और इसकी समाप्ति में कहा–

इय एसजीयकप्पो, समासओ सुविहियाणुकम्पाए।
कहियो देयोऽयं पुण, पत्ते सुपरिच्छियगुणम्मि॥103॥

पर प्रस्तुत ध्यानशतक में प्रवचन को प्रमाण न करके योगीश्वर वीर को नमस्कार किया गया है तथा उसे समाप्त करते हुए यद्यपि उसकी उपयोगिता प्रगट की गई है, किन्तु वह कुछ भिन्न रूप में की गई है। इसके अतिरिक्त विवादोत्पन्न 106वीं गाथा में जिस प्रकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के नाम का निर्देश किया गया है उस प्रकार उपर्युक्त विशेषाश्यक और जीतकल्पसूत्र में अपने नाम का तथा गाथा संख्या दोनों का ही निर्देश नहीं किया गया है।

पूर्वोक्त 106वीं गाथा क्षेपक है ऐसा अभिमत पं. बालचंद्र जी का रहा है और इनके अभिमत से श्वेताम्बर परंपरा के वयोवृद्ध विद्वान् सागरमल जी भी सहमत हैं। प्राकृत भारती से छपी ध्यानशतक नाम की प्रति में उनकी भूमिका है। वहाँ से वे कहते हैं कि ''हम पं. बालचंद्र सिद्धान्तशास्त्री से सहमत होकर यह मान सकते हैं कि यह अंतिम गाथा बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई है, क्योंकि इस संबंध में अन्य अनेक साधक प्रमाण भी उपलब्ध है।

यह भी सत्य है कि इस 106वीं गाथा में यह कहा गया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के द्वारा यह ग्रंथ रचा गया है। यह कथन स्वयं लेखक के द्वारा तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि यदि लेखक स्वयं इस गाथा के रचियता होते तो वे यह लिखते, 'मुझ जिनभद्र गणि द्वारा रचा गया है, अतः इस गाथा का अन्यकृत और प्रक्षिप्त होना तो सिद्ध है।''

आगे पं. सागरमल जी कहते हैं कि– ''अब प्रश्न यह उठता है कि यह गाथा प्रस्तुत कृति में कब जोड़ी गई? वस्तुतः यह गाथा प्रस्तुत कृति में हरिभद्र की टीका के पश्चात् ही जोड़ी गई होगी और यही कारण हो सकता है कि हरिभद्र ने इस गाथा पर टीका न लिखी हो। दूसरे, यदि हरिभद्र स्वयं इस गाथा को जोड़ते तो मूल गाथाओं के बाद इस गाथा को अवश्य देते, किन्तु उनकी टीका में इस गाथा की अनुपलिब्ध यही सिद्ध करती है कि यह गाथा हरिभद्रीय टीका के बाद ही जुड़ी होगी, किन्तु हरिभद्रीय टीका के पश्चात् मलधारी हेमचंद्र द्वारा जो टिप्पण लिखे गए उनमें भी इसके कर्त्ता के संबंध में कोई संकेत नहीं किया गया। इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह गाथा मलधारी हेमचंद्र के टिप्पण के बाद ही प्रक्षिप्त हुई होगी, अर्थात् ईसा की बारहवीं शती के पश्चात् ही प्रक्षिप्त हुई होगी।''

पंडित दलसुखभाई मालवणिया ने भी 106वीं गाथा को संदेहास्पद कहा है। उन्होंने गणधरवाद की प्रस्तावना में भी ध्यानशतक के जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित होने में संदेह व्यक्त किया है। उनके संदेह का आधार भी हरिभद्रीय टीका और हेमचंद्र के टिप्पण में कर्त्ता के नाम का अनुल्लेख ही है।

अतः पं. सागरमल जी व पं. दलसुखभाई मालवणिया दोनों ही हमारे इस अभिमत से सहमत हैं कि 106वीं गाथा क्षेपक ही है।

प्राकृत भारती से छपी ध्यानशतक कृति जिसमें पं. सागरमल जी की भूमिका है, उस प्रति में सम्पादन, व्याख्या और प्रस्तावना डॉ. सुषमा सिंघवी की है। किन्तु भूमिका कर्त्ता और प्रस्तावनाकार का मन्तव्य समान नहीं है। पं. सागरमल जी जहाँ 106वीं गाथा को क्षेपक स्वीकारते हैं वहीं डॉ. सुषमा जी उसे मूलग्रंथ आवश्यक निर्युक्ति में प्रतिक्रमण के प्रकरण में गाथा 1271 के बाद ध्यान के बारे में विस्तृत जानकारी हेतु शास्त्रांतर रूप में उद्धृत है। टीकाकार का अंतिम गाथा का वहाँ देना युक्ति संगत नहीं बैठता इसलिए टीकाकार ने उस पर कुछ नहीं कहा।'' किन्तु उनका यह कहना पूर्णतः अनुचित है क्योंकि जब टीकाकार को ग्रंथ का विषय ही उद्धृत करना था तो मंगलाचरण भी नहीं देना चाहिए था। अतः उक्त गाथा क्षेपक ही है, डॉ. सुषमा जी का तर्क तो मात्र 'धूल में लट्ठ घुमाने' जैसा प्रतीत होता है।

प्रथम शती में लिखे गए झाणज्झयण पाहुड में उपलब्ध गाथा 101 भी यही कहती है कि यह ग्रंथ जिनभद्र क्षमाश्रमण का नहीं है। झाणज्झयण पाहुड में उपलब्ध गाथा क्र. 101 तिलोयपण्णत्ती में 9वें महाधिकार में 22वें क्रम पर यथावत उपलब्ध है। यथा–

जह चिसंचियमिंधण, मणलो पवणुग्गदो धुवं दहइ।
तह कम्मिंधण ममियं, खणेण झाणाणलो दहइ। (झा/101॥)
जह चिरसंचियमिंधण, मणलो पवणाहदो लहुं दहइ।
तह कम्मिंधण महियं, खणेण झाणाणलो दहइ। (ति.प./9/18)

झाणज्झयण कर्ता कुंदकुंद स्वामी 1–2 शती के हैं, तिलोयपण्णत्ती कर्ता आचार्य यतिवृषभ स्वामी 2–3 शती के हैं और जिनभद्र गणि का समय 6–7 शती है। अगर यह ग्रंथ जिनभद्रगणि का स्वीकारते हैं तो असंभव दोष आता है। क्योंकि 2–3 शती में हुए यतिवृषभ स्वामी; 6–7 शती में हुए जिनभद्रगणि की गाथा अपने ग्रंथ में कैसे उद्धृत करते। ग्रंथ लिखने के 400 वर्ष पूर्व उसकी गाथा अन्य ग्रंथों में उपलब्ध हो यह संभव नहीं है। उन्मत्त पुरुष भी इसे संभव नहीं स्वीकारेगा। आचार्य यतिवृषभ स्वामी के समक्ष जरूर झाणज्झयण उपलब्ध होगा तभी उन्होंने उसकी गाथा को उद्धृत किया है। अतएव तिलोयपण्णत्ती में उद्धृत गाथा झाणज्झयण से ली गई है, इससे यह ग्रंथ प्रथम–द्वितीय शती का ही है और कुंद–कुंद कृत ही है।

ऐसा भी हो सकता है कि श्रेणिक चरित्र की तरह कुंद–कुंद के झाणज्झयण को किसी श्वेतपट्टाम्नायी विद्वान् अथवा साधु ने अर्धमागधी की छाया रूप में अपना बनाने की चेष्टा/अनर्गल प्रवृत्ति की हो क्योंकि मूलसंघ से पृथक हुई श्वेतपट्टाम्नाय में पूर्व काल से ही दिगम्बर श्रमण संस्कृति के पुरातत्त्व और साहित्य को बलपूर्वक अपना बनाने की कला प्रारंभ से रही है और यही प्रयास संप्रतिकाल में भी गतिमान है। अगर आज भी कहीं कोई वीतरागी जिनबिंब भूगर्भादि से प्राप्त होता है तो वे गृहस्थों के समान हिस्सा माँगने आते हैं। श्वेतांबराचार्यों के द्वारा दिगंबराचार्यों के ग्रंथों को अपना बनाने की चेष्टों में ध्यानशतक एक प्रस्तुत उदाहरण है जिसमें शौरसेनी भाषा में लिपिबद्ध झाणज्झयण की अर्धमागधी छाया की गई है।

पण्डित सागरमल जी, डॉ. सुषमा जी और पण्डित दलसुखभाई मालवणिया इन सभी ने इस ग्रन्थ को

जिनभद्रक्षमाश्रमण की कृति मानने के लिए जो तर्क दिए हैं, उसका संभवतः मुख्य कारण यही है कि वे इसे किसी श्वेताम्बराचार्य की कृति मानना चाहते हैं, किन्तु उनका यह मन्तव्य इसलिए सिद्ध नहीं होता क्योंकि कृति मूलतः शौरसेनी/महाराष्ट्री प्राकृत में ही लिखी गई है। अर्धमागधी में लिखे गए प्रमुखतः ग्रंथ श्वेताम्बराचार्यों के द्वारा रचित हैं और शौरसेनी/महाराष्ट्री में रचित ग्रंथ दिगंबराचार्यों के हैं। अतः इतना सुनिश्चित है कि यह ग्रंथ दिगम्बर परंपरा में ही निर्मित हुआ है। ग्रंथकर्त्ता के रूप में कुंद-कुंद देव को स्वीकारने में कोई बाधा नहीं है और जिनभद्रगणि का स्वीकारने में बाधा ही बाधा है। फिर भी आगम में सूत्र है कि– "**पराभिप्राय निर्वृत्तिमशक्यत्वात्**"– पर के अभिप्राय को बदलना अशक्य है। किन्तु पूर्व में दिए गए तर्क और तथ्यों को निष्पक्ष रूप से देखने पर सत्य समझ में आ जाएगा। कहा भी है–

'दुराग्रह–ग्रह–ग्रस्ते, विद्वान्पुंसि करोति किं।
कृष्णपाषाणखण्डस्थ, मार्दवाय न तोयदः॥'

अर्थात् दुराग्रह रूपी ग्रह से ग्रस्त पुरुष के विषय में विद्वान् क्या करें? क्योंकि मेघ काले पाषाणखण्ड को कोमल करने के लिए समर्थ नहीं होता है।

आचार्य कुंद–कुंद का संक्षिप्त परिचय

अब से लगभग 2000 वर्ष पूर्व युगप्रधान–कलिकालसर्वज्ञ आचार्य कुंद-कुंद स्वामी ऐसे प्रखर प्रभापुञ्ज के समान महान् गणपति हुए जिनके महान् आध्यात्मिक चिंतन से सम्पूर्ण भारतीय मनीषा प्रभावित और लाभान्वित हुई और उसने एक अद्भुत भारतीय मनीषा प्रभावित और लाभान्वित हुई और उसने एक अद्भुत मोड़ लिया। इसीलिए इनके परवर्ती सभी आचार्यों ने अपने को उनकी परंपरा का आचार्य मानकर उनकी सम्पूर्ण साहित्य विरासत से जुड़ने में अपना गौरव माना तथा उनकी मूल परंपरा तथा ज्ञान गरिमा को एक स्वर से श्रेष्ठ मान्य करते हुए कहा–

मंगलं भगवं वीरो, मंगलं गोदमो गणी।
मंगलं कोण्डकुंदादी, जेण्ह धम्मोत्थु मंगलं॥

अर्थात् भगवान् महावीर मंगलस्वरूप हैं,गौतम गणधर स्वामी मंगलस्वरूप हैं, आचार्य कुंद-कुंद स्वामी मंगलस्वरूप हैं तथा सर्वकल्याणकारक जैन धर्म मंगलस्वरूप हैं।

[1]"शिलालेखों के अनुसार इनका जन्मस्थान कोणु–कुंदे प्रचलित नाम कोंड कुंद (कुंदकुंदपुरम्) तहसील गुण्टूर है जो कि आंध्रप्रदेश के अनंतपुर जिले में कौण्डकुंदपुर अपरनाम कुरुमरई माना जाता है। इनका जन्म शार्वरी नाम संवत्सर माघ शुक्ला 5 ईसा पूर्व 108 (बी.सी.) में हुआ था। इन्होंने 11 वर्ष की अल्पायु में ही निर्ग्रंथ/निर्वाण दीक्षा ली तथा 33 वर्ष तक मुनिपद पर रहकर ज्ञान और चारित्र की अहर्निश साधना

1. समयसार : पुरोवाक् (मुन्नुडि) पृ.–304 : संपादन–बलभद्र जैन, प्रकाशन– कुंदकुंद भारती, दिल्ली–1978।।

की, 44 वर्ष की आयु (ईसा पूर्व 64) चतुर्विध संघ ने इन्हें आचार्यपद पर प्रतिष्ठित किया। इन्होंने 51 वर्ष 10 माह और 15 दिन तक आचार्य पद को सुशोभित किया। इस तरह कुंदकुंद स्वामी ने कुल 95 वर्ष 10 माह 15 दिन की दीर्घआयु पाई और ईसा पूर्व 12 में समाधिमरण पूर्वक मृत्यु पाकर स्वर्गारोहण किया।''

आचार्य कुंदकुंद के अपर नाम

साहित्य, शिलालेख और साहित्यकारों की दृष्टि में कुंदकुंद देव के 8 नाम उपलब्ध हैं। यथा– कोण्डकुंद, पद्मनन्दि, वक्रगीव, एलाचार्य, महामुनि, गृद्धपिच्छ, कलिकालसर्वज्ञ और वट्टकेर।

नन्दिसंघ से सम्बद्ध विजयनगर के 1386 ई. के एक शिलालेख में तथा नन्दिसंघ पट्टावली में 6 नामों का उल्लेख है। यथा–

श्रीमूलसं(घ)ऽजनि नन्दि संघस्तस्मिन् बलातकारगणेऽतिरम्य।
तत्रापि सारस्वतनाम्निगच्छे, स्वच्छाशयोऽभूदिह पद्मनंदी।।
आचार्यः कुंदकुंदाख्यो, वक्रगीवो महामुनिः।
एलाचार्यो गृद्धपिच्छ, इति तन्नाम पंचधा।।

कलिकालसर्वज्ञ विशेषण का उल्लेख श्रुतसागरसूरी (16वीं शती) ने षट्प्राभृत की टीका में किया है। यथा–

''श्रीपद्मनन्दि कुंदकुंदाचार्य वक्रगीवाचार्यैलाचार्यगृद्धपिच्छा–चार्यनामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाशगमनर्द्धिना पूर्वविदेहपुण्डरीकिणीनगरवंदित सीमन्धरापरनाम स्वयंप्रभजिनेन तच्छ्रुतज्ञान–संबोधित–भरतवर्षभव्यजीवेन श्रीजिनचंद्रसूरिभट्टारकपट्टाभरणभूतेन 'कलिकाल–सर्वज्ञेन' विरचिते। षट्प्राभृतग्रन्थे सर्वमुनि– मण्डलीमण्डितेन...।''

षट्खण्डागम के प्रथम वृत्तिकार कुंदकुंद हुए हैं। इस आधार से कुछ विद्वत्गणों, साहित्य मनीषियों का मानना है कि वृत्तिकार–वट्टकेर विशेषण से भी सुशोभित हुए हैं किन्तु यह विचारणीय विषय है।

आचार्य कुंदकुंद के विषय में प्रचलित अनुश्रुतियाँ

आचार्य कुंदकुंद के विषय में अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हैं। किन्तु हम यहाँ तीन पर विचार करते हैं।

1. चारणऋद्धिसम्पन्नता– अनेक शिलालेखों में कुंदकुंद स्वामी के लिए चारणऋद्धिधारी अर्थात् पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर आकाश में अनेक योजन तक गमन करने वाला कहा है। श्रवणवेलगोल नगर में गोशाला में सं. 1041 के शिलालेख संख्या 139 में लिखा है–

स्वस्ति श्री वर्द्धमानस्य, वर्द्धमानस्य शासने।
श्री कौण्डकुंदनामाभूच्, चतुरङ्गुलचारणः।।

अर्थात् वर्द्धमान के शासन में परिपूर्ण रूप से निष्णात चार अंगुल ऊपर जमीन से चलने वाले कुंदकुंदाचार्य हुए।

चामुण्डराय वस्ति के दक्षिण की ओर मण्डप के प्रथम स्तम्भ पर सं. 1045 के लेख 43 में लिखा–

श्री पद्मनंदीत्यनवद्यनामा, ह्याचार्य्य शब्दोत्तर कोणुकुंदः।

द्वितीयमासीदभिधानमुद्याच्, चरित्र सञ्जातसुचारणर्द्धिः॥43॥

इस उक्त लेख में भी चारणऋद्धिधारी बतलाया है। विन्ध्यगिरि पर्वत पर सिद्धरबस्ती में लेख सं. 105 में स्पष्ट रूप से आचार्य कुंदकुंद को भूमि से चार अंगुल ऊपर गमन करने वाला कहा है–

शास्त्राधारेषु पुण्यादजनि, सजगतां कोण्डकुंदो यतीन्द्र॥13॥ रजोभिरस्पृष्ट-तमत्वमन्तर्ब्बार्हयेऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः। रजः पदं भूमितलं विहाय, चचार मन्ये चतुरंगुलं सः॥14॥

अर्थात् यतीन्द्र कुंदकुंदाचार्य रजःस्थान पृथ्वीतल को छोड़कर चार अंगुल ऊपर गमन करते थे, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे अन्तः और बाह्य रज (धूल) से अत्यन्त अस्पृष्टता व्यक्त करते थे।

पूर्वोक्त लेख में जहाँ श्रुतसागर सूरि ने कलिकालसर्वज्ञ विशेषण दिया है वहीं चारांगुल गमन का कथन की किया है। यथा–

'श्रीपद्मनन्दिकुंदकुंदाचार्य वक्रग्रीवाचार्यैलाचार्या गृद्धपिच्छाचार्य– नामपंचकविराजितेन चतुरंगुलाकाश गमनर्द्धिना...।।''

(2) विदेह क्षेत्र गमन– अनेक ग्रन्थों और शिलालेखों में कुंदकुंद स्वामी के विदेहगमन का उल्लेख है। सर्वप्रथम विदेह गमन घटना का उल्लेख 9–10वीं शती में हुए आचार्य देवसेन कृत दर्शनसार में मिलता है–

''जइ पउमणंदिणाहो, सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।

ण वि बोहइ तो समणा, कहं सुमग्गं पयाणंति॥43॥''

अर्थात् पद्मनन्दि (कुंदकुंद) स्वामी ने सीमंधर स्वामी से दिव्यज्ञान प्राप्त कर अन्य मुनियों को प्रबोधित किया। यदि वे प्रबोधन कार्य न करते तो श्रमण सुमार्ग किस तरह प्राप्त करते?।।

इसके बाद जयसेन स्वामी ने 'पंचत्थिकाय' की टीका में ''प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्व विदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदस्वामितीर्थंकर परमदेवं दृष्ट्वा–नन्मुखकमलविनिर्गता दिव्यवाणीश्रवणावधारित पदार्थच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा...'' कहकर उनकी विदेहगमन विषयक घटना का उल्लेख किया है। उन्होंने इस घटना को 'प्रसिद्धकथान्यायेन' बतलाया है, जिससे ऐसा लगता है कि यह घटना उनके समय में अत्यन्त प्रसिद्ध होगी।

इसके पश्चात् 5–16वीं शती के षट्प्राभृत के संस्कृत टीकाकार श्रुतसागरसूरि ने तथा पश्चाद्वर्ती अन्य विद्वानों ने भी इस घटना का उल्लेख किया है। शुभचंद्र की पट्टावली में भी इसका उल्लेख प्राप्त है।

(3) गिरनार विवाद– शुभचन्द्राचार्य ने 'पाण्डवपुराण' में गिरनार पर्वत पर दिगम्बर और श्वेताम्बरों के विवाद का उल्लेख किया है और वहाँ कुंदकुंदगणी का भी स्मरण किया है। यथा–

कुंदकुंदगणी येनोर्जयंतगिरिमस्तके।
सोऽवतात् वादिता ब्राह्मी, पाषाणघटिताकलौ॥

अर्थात् वे कुंद–कुंदगणी रक्षा करें, जिन्होंने कलयुग में ऊर्जयंत (गिरनार) पर्वत पर पाषाण से बनी हुई ब्राह्मी देवी को भी बुलवा दिया।

इस प्रकार का उल्लेख शुभचंद्रस्वामी की गुर्वावली में भी है। वहाँ अंतिम श्लोकों में बलात्कारगण के प्रधान पद्मनन्दि मुनि को नमस्कार करते हुए कहा गया है कि उन्होंने ऊर्जयन्त पर्वत पर सरस्वती की मूर्ति को बुलवा दिया था।

कवि वृन्दावन ने इस घटना का स्पष्ट उल्लेख किया है। उन्होंने लिखा कि एक बार कुंदकुंदाचार्य ससंघ गिरनारपर्वत गए। वहाँ पर श्वेताम्बरों में उनका वाद–विवाद हो गया। दिगम्बर और श्वेताम्बरों ने अंबिका नामक देवी को अपना मध्यस्थ बनाया। देवी ने प्रकट होकर दिगंबरों का समर्थन किया। इससे यह सिद्ध होता है कि वे कुशल मंत्रज्ञ भी रहे होंगे। दिगंबर और श्वेताम्बर दोनों ही के ग्रन्थों में गिरनार पर्वत पर विवाद होने के विवरण मिलते हैं।

कुंदकुंदाचार्य का समय

आचार्य कुंदकुंद के समय पर अब तक विवाद स्थापित ही है। अनेक विद्वानों का भिन्न–भिन्न मन्तव्य रहा है। श्री जुगलकिशोर मुख्तारजी कुंदकुंद स्वामी को द्वितीय भद्रबाहु शिष्य स्वाकारते हैं और उनका समय वी.नि.सं. 608–692 (81–165 ई.) मानते हैं।

श्री नाथुराम जी प्रेमी श्रुतावतार के आधार पर कुंदकुंद का समय वी.नि.सं. 683 (156 ई.) निर्दिष्ट करते हैं।

डॉ. के.बी. पाठक, प्रो. ए. चक्रवर्ती तथा डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन का मन्तव्य सबसे भिन्न है। डॉ. के.बी. पाठक कुंदकुंद का समय सं. 450 (528 ई.), प्रो. ए. चक्रवर्ती ने उनका जन्म ई.पू. 52 में तथा आचार्य पद की प्राप्ति ई.पू. 8 में स्वीकार किया है। डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन ने उनका समय 8 ई.पू. से 44 के मध्य स्वीकारा है।

जहाँ डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने कुंदकुंद को स्त्रीमुक्ति आदि के खंडन के आधार पर उनका समय प्रथम शती माना है। वहीं सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचंद्र शास्त्री ने द्वितीय शती माना है। प्रो. हार्नले ने विभिन्न पट्टावलियों, शास्त्रों व अन्य पुरातात्त्विक सामग्री का अनुसंधान करके आचार्य कुंदकुंद का समय ई.पू. 108 निर्धारित किया है।

अतः पूर्वोक्त ऊहामोह के पश्चात् ऐसा माना जा सकता है कि आचार्य कुंदकुंद अब से दो हजार वर्ष पूर्व के ही है।

कुंदकुंदाचार्य के गुरु

कुंदकुंदाचार्य ने स्पष्ट रूप में कहीं अपने गुरु का नाम उल्लेखित नहीं किया। प्रायः कुंदकुंदाचार्य के गुरु कौन है इस विषय में तीन नाम हमारे सामने आते हैं। प्रथम भद्रबाहु स्वामी, द्वितीय कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव और तृतीय जिनचंद्राचार्य। कुंदकुंद स्वामी ने जो समयसार में 'सुदकेवली भणिदं' कहा है उससे भद्रबाहु स्वामी को ग्रहण किया है। 'बोधपाहुड' में कुंदकुंद देव ने कहा–

सद्दवियारो हुओ, भासा सुत्तेसु जं जिणे कहिदं।
सो तह कहिदं णायं, सीसेण यम भद्दबाहुस्स॥4/61॥
वारसअंगवियाणं, चउदसपुव्वंगविउल वित्थरणं।
सुदणाणिभद्दबाहू, गमयगुरु भगवओ जयओ॥4/62॥

पूर्वोक्त गाथा में कुंदकुंद स्वामी ने भद्रबाहु स्वामी को अपना गमक गुरु स्वीकारा है। गमक के अनेक अर्थ संभव है, किन्तु यहाँ परम्परा के अर्थ में कुंदकुंदस्वामी के परंपरा गुरु माना जा सकता है। फिर उपर्युक्त कुमारनन्दि सिद्धान्तदेव और जिनचंद्र में से साक्षात् गुरु कौन है? मथुरा से प्राप्त शिलालेख में कुमारनन्दि का नाम निर्देशित है तथा समयसार की टीका में जयसेनाचार्य ने भी कुमारनन्दि स्वामी का ही नाम लिया है। किन्तु नन्दिसंघ की पट्टावली में क्रमशः माघनन्दि, जिनचंद्र का उल्लेख आया है। परंतु पूर्ण प्रमाणाभाव में उनके साक्षात् गुरु का नाम विवादास्पद ही है। अतः यह विषय अभी भी विचारणीय है।

कुंदकुंद स्वामी की भाषा और साहित्य

भाषा– भाषा की प्रौढ़ता, मधुरता एवं गंभीरता का जो स्वरूप कुंदकुंदाचार्य की कृतियों में दिखलाई पड़ता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। उन्होंने तत्कालीन बोलचाल की भाषा के रूप में प्रचलित शौरसेनी प्राकृत भाषा को माध्यम बनाकर विशाल साहित्य का सृजन किया। कुछ विद्वान् इसे 'जैन शौरसेनी' भी कहते हैं। यशस्वी विद्वान् बलभद्र जैन ने भी कहा 'हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कुंदकुंद स्वामी केवल सिद्धान्त और अध्यात्म के ही मर्मज्ञ विद्वान् नहीं थे, अपितु वे भाषा शास्त्र के भी अधिकारी और प्रवर्तक विद्वान् थे। उन्होंने अपनी प्रौढ़ रचनाओं द्वारा प्राकृत को नए आयाम दिए, उसका संस्कार किया, उसे संवारा और नया रूप दिया। इसलिए वे जैन शौरसेनी के आद्य कवि और रचनाकार माने जाते हैं।''

साहित्य

श्रुत विच्छेद के बाद कुंदकुंद स्वामी के 84 पाहुड ग्रंथों का उल्लेख सुप्रसिद्ध है। इसीलिए उन्होंने युग प्रतिष्ठापक होने का श्रेय प्राप्त होना स्वाभाविक है। 84 पाहुडों में से 23 ग्रंथ अभी उपलब्ध है और 43

पाहुडों का नाममात्र प्राप्त है। 'संयम प्रकाश में 6 और नाम है। उपलब्ध कृतियों में निम्नलिखित ग्रंथ है–

(1) पवयणसार (2) समयपाहुड (3) पंचत्थिकाय संगह (4) णियमसार (5) बारसाणुपेक्खा (6) रयणसार (7) झाणज्झयण पाहुड (8) दंसणपाहुड (9) चारित्तपाहुड (10) सुत्तपाहुड (11) बोधपाहुड (12) भावपाहुड (13) मोक्खपाहुड (14) लिंगपाहुड (15) सीलपाहुड (16) सिद्धभत्ति (17) सुदभत्ति (18) चारित्त भत्ति (19) जोइभत्ति (20) आयरियभत्ति (21) णिव्वाण भत्ति (22) पंचगुरुभत्ति (23) तित्थयरभत्ति॥

प्राकृत एवं जैन साहित्य के प्रसिद्ध मनीषि डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने निम्नलिखित 43 पाहुडों की सूची प्रवचनसार की अंग्रेजी प्रस्तावना में प्रस्तुत की है–

(1) आचार पाहुड, (2) आलाप पाहुड, (3) अंग(सार) पाहुड, (4) आराहणा (सार) पाहुड, (5) बंध (सार) पाहुड, (6) बुद्धि या बोधि पाहुड, (7) चरण पाहुड, (8) चूलिया पाहुड, (9) चूर्णि पाहुड, (10) दिव्वपाहुड, (11) द्रव्य (सार) पाहुड, (12) दृष्टि पाहुड, (13) इयन्त पाहुड, (14) जीव पाहुड, (15) जोणि (सार) पाहुड, (16) कर्मविपाक पाहुड, (17) कर्म पाहुड, (18) क्रियासार पाहुड, (19) क्षपणासार या क्षपण पाहुड, (20) लब्धि (सार) पाहुड, (21) लोय पाहुड, (22) णाय पाहुड, (23) नित्य पाहुड, (24) णोकम्मपाहुड, (25) पंचवर्ग पाहुड, (26) पयड्ड पाहुड, (27) पय पाहुड, (28) प्रकृति पाहुड, (29) प्रमाण पाहुड, (30) सलमी पाहुड, (31) संठाय पाहुड, (32) समवाय पाहुड, (33) षट्दर्शन पाहुड, (34) सिद्धान्त पाहुड, (35) सिक्खा पाहुड, (36) स्थान पाहुड, (37) तच्च (सार) पाहुड, (38) तोय (तीय) पाहुड, (39) अद्योत पाहुड, (40) उत्पाद पाहुड, (41) विद्या पाहुड, (42) वस्तु पाहुड, (43) विहिय या विहय पाहुड।

उपर्युक्त पाहुड ग्रंथों के अतिरिक्त निम्नलिखित 6 पाहुड ग्रंथों के नाम 'संयम प्रकाश' नामक ग्रंथ में उपलब्ध हैं– **(1) णामकम्म पाहुड (2) योगसार पाहुड (3) निताय पाहुड (4) उद्योत पाहुड (5) शिक्षा पाहुड (6) ऐयन्न पाहुड॥**

इस तरह बहु प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व के धनी आचार्य कुंदकुंद द्वारा प्रणीत विराट साहित्य एवं जीवन घटनाओं से यह सुस्पष्ट है कि वे मंत्रज्ञ, जिनभक्त के साथ–साथ प्राकृत भाषा, धर्मशास्त्र, नय, न्याय दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण, अलंकार, रस, साहित्यादि विषयों के प्रतिभापुञ्ज विद्वान् थे। इनके लिए विभिन्न आचार्यों और विद्वानों के द्वारा प्रदत्त 'कलिकाल सर्वज्ञ आदि' विशेषण भी अन्वयर्थ संज्ञा को प्राप्त हैं।

इस प्रकार अध्यात्म विद्या के प्रधान प्रणेता आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की है। इसलिए कविवर वृंदावन–दास ने कहा है–

जास के मुखार विन्दतैं, प्रकाश भासवृंद, स्याद्वाद जैन वैन इंद कुंदकुंद से।
तासके अभ्यासतैं, विकास भेद ज्ञान होत, मूढ सो लखै नहीं कुबुद्धि कुंदकुंद से।
देत हैं आशीस शीस, नाय इंद चंद जाहि, मोहि मार खंड मारतण्ड कुंदकुंद से।
विशुद्धि बुद्धि वृद्धिदा, प्रसिद्ध ऋद्धि सिद्धिदा, हुए, न हैं, न होंहिगे मुनिंद कुंदकुंद से।।

ग्रंथ का विषय

ग्रंथ को प्रारंभ करते हुए श्रीमद् कुंदकुंद देव ने शुक्ल ध्यानाग्नि से कर्म रूप ईंधन को दग्ध करने वाले वीर प्रभु को नमस्कार करके झाणज्झयण को कहने की प्रतिज्ञा करी है। इसके पश्चात् सर्वप्रथम स्थिर अध्यवसान को ध्यान का स्वरूप बतलाया है। स्थिर अध्यवसान से एकाग्रता का आलम्बन कहा जा सकता है। इसके विपरीत जो अस्थिर अध्यवसान है उसे चल चित्त कहकर भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता इन तीन में विभक्त किया गया है। (गाथा. 2)

एक वस्तु में चित्त के अवस्थान रूप ध्यान का उत्कृष्टकाल अन्तर्मुहूर्त है। इस प्रकार का ध्यान छद्मस्थ (अल्पज्ञ) जीवों के ही होता है, केवलियों का ध्यान योगों के निरोधस्वरूप है (गाथा.3)। अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ध्यान के विनिष्ट हो जाने पर या तो पूर्वोक्त स्वरूपवाली चिंता होती है या फिर भावना या अनुप्रेक्षा रूप ध्यानांतर भी हो सकता है तथा बहुत सी वस्तुओं में संचार के होने पर ध्यान की परंपरा दीर्घकाल तक चल सकती है। (गाथा. 4)

(1) आर्त्तध्यान

आगे आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान इस प्रकार सामान्य से ध्यान चार प्रकार का कहा है; इनमें आर्त्त और रौद्र ये दो ध्यान संसार के कारण हैं तथा धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान मोक्ष के कारण कहे हैं। (गाथा. 5)

अनिष्ट विषयों का संयोग होने पर उनके वियोग हो जाने पर भी जो भविष्य में उनके पुनः संयोग न होने की चिंता होती है, उसे प्रथम अनिष्ट वियोग चिंतन आर्त्तध्यान कहते हैं। रोग जनित पीड़ा के होने पर उसके वियोग की चिंता के साथ भविष्य में उसके पुनः संयोग न होने की जो चिंता है, उसे दूसरा अप्रशस्त वेदना चिंतन आर्त्तध्यान माना है। अभीष्ट विषयों का संयोग होने पर उनका भविष्य में कभी वियोग न होने विषयक तथा वर्तमान में यदि उनका संयोग नहीं है तो उनकी प्राप्ति किस प्रकार से हो, इसके लिए जो चिंता होती है उसे तीसरा इष्ट वियोगज चिंतन आर्त्तध्यान कहा है। संयम का परिपालन अथवा तपश्चरण आदि कुछ अनुष्ठान करके, उसके फलस्वरूप इंद्र व चक्रवर्ती आदि की विभूतिविषयक प्रार्थना करना, इसे चौथा निदान चिंतन आर्त्तध्यान कहा गया है। उपर्युक्त चार प्रकार की इस संक्लेश रूप परिणित को आर्त्तध्यान कहा गया है (गाथा–6–9)। यह आर्त्तध्यान आसक्ति, अप्रीति और अज्ञान से युक्त प्राणियों के होता है जो तिर्यंचगति का मूल कारण होने से संसार का बढ़ाने वाला है। (गाथा–10)

राग–द्वेष में स्थित साधु वस्तुस्वरूप का चिंतन करते हुए रोगादि जनित वेदना के होने पर उसे अपने पूर्वोपार्जित कर्मोदय से उत्पन्न हुई जानकर शुभभावों के साथ सहन करता है। ऐसा श्रमण निर्मल परिणामस्वरूप उत्तम आलंबन लेकर अल्प सावद्य का भी प्रतिकार करता है। फिर निदान रहित होता हुआ तप संयम रूप प्रतिकार का सेवन करता है उसके निदान रहित धर्मध्यान ही रहता है न कि आर्त्तध्यान और

संसार के कारण भूत जो राग–द्वेष और मोह हैं वे आर्त्तध्यान में भी रहता है, इसलिए उसे संसार रूप वृक्ष का मूल कहा गया है। (गाथा–11–13)

इसके पश्चात् आर्त्तध्यान के स्वामी, लेश्याएँ तथा लांछन लक्षित करते हुए कहा कि कर्म परिणामों से जनित कापोत, नील और कृष्ण ये तीन लेश्याएँ आर्त्तध्यानी में पाई जाती हैं। जो अपने भले–बुरे कर्मों की प्रशंसा करता है तथा धन–सम्पत्ति के उपार्जन में उद्यत रहता हुआ शब्दादि विषयों में आसक्त होकर, प्रमादी होकर सुधर्म की उपेक्षा करता है वह आर्त्तध्यान में वर्तन करता है। इसके सिवाय इष्टवियोग एवं अनिष्ट संयोगादि के निमित्त से होने वाले आक्रन्दन, शोकन, परिदेवन एवं ताडनादि हेतुओं से भी आर्त्तध्यानी की पहिचान होती है। जो सर्वप्रमाद का मूल है तथा यतियों के छोड़ने योग्य है ऐसा आर्त्तध्यान छठवें गुणस्थान तक के जीवों के अर्थात् मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, अविरतसम्यग्दृष्टि, संयतासंयत तथा प्रमादयुक्त संयत जीवों के होता है। (गाथा–14–18)

(2) रौद्रध्यान

आर्त्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी चार भेद हैं। हिंसानुबंधी, मृषानुबंधी, चौर्यानुबंधी तथा विषयसंरक्षणानुबंधी इसके चार भेद हैं। निर्दयी होकर एकेन्द्रियादि प्राणियों के वध करने, छेदने, बाँधने, जलाने, अंकने, ताड़ने, पीटने आदि का अत्यंत क्रोध के वशीभूत होकर जो निरंतर चिंतन है वह अधम विपाक स्वरूप प्रथम हिंसानुबंधी/हिंसानंदी रौद्रध्यान है। मायापूर्ण, असभ्य, परिनंदाजनक एवं प्राणिघातक इत्यादि अनेक प्रकार के असत्य, असद्भूत, अप्रशस्त वचन बोलने का जो निरंतर दृढ़ अध्यवसाय/ चिंतन है उसे द्वितीय मृषानुबंधी/मृषानंदी रौद्र ध्यान जानो। जो परलोक में होने वाले नरकादि–दुःखों की, अनिष्ट की परवाह नहीं करता तथा जिसका चित्त क्रोध व लोभ के वशीभूत होकर दूसरों की धनसम्पत्ति आदि के अपहरण में संलग्न रहता है उसके स्तेयानुबंधी/चौर्यानंदी नामक तीसरा रौद्रध्यान जानना चाहिए। श्ब्दादि विषय के साधनभूत धनसंरक्षण में परायण, सभी पर शंकित होकर पर–उपघात के हेतु कालुष्य और आकुल चित्त होने वाले के चौथा विषय संरक्षणानंदी/विषय संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान जानो। यह अनिष्ट है, आत्महितैषी पुरुष इसकी कभी इच्छा नहीं करते। (गाथा 19–22)

इसके पश्चात् आर्त्तध्यान के समान रौद्रध्यान के स्वामी, लेश्याएँ, अंतरंग व बाह्य चिह्न कहे गए हैं। यह चार प्रकार का रौद्रध्यान राग, द्वेष और मोह से युक्त तथा आकुल चित्त से युक्त जीव के होता है। वह संसारवर्धन और तिर्यंचगति का मूल है। यह रौद्रध्यान मिथ्यादृष्टि से लेकर संयतासंयत गुणस्थान तक के जीवों के कृत, कारित, अनुमोदना के विषय के पर्यालोचन से युक्त होता है। रौद्रध्यान में भी आर्त्तध्यान की तरह तीन अशुभ लेश्याएँ रौद्रध्यानी के तीव्र संक्लेशता के साथ होती हैं। उत्सन्नदोष, बहुलदोष, आमरणदोष और नानाविध दोष में चार दोष रौद्रध्यान के चिह्न हैं। इसके अलावा पर विपदाओं को चाहना, निर्दय होना, अपने कुकृत्यों में हर्षित होना, उनकी परवाह न करना, उनके लिये अनुताप नहीं होना ये सभी भी उक्त रौद्रध्यानी के लक्षण हैं। (गाथा–23–27)

(3) धर्मध्यान

धर्मध्यान की प्ररूपणा के प्रारंभ में सर्वप्रथम कुंदकुंद देव ने धर्मध्यान के योग्य द्वादश द्वारों की विवेचना की है तथा इन्हें जानने के पश्चात् धर्मध्यान करना चाहिये। तत्पश्चात् शुक्लध्यान करना चाहिए। ये द्वार इस प्रकार हैं–

(1) ध्यान की भावनाएँ, (2) ध्यान का देश, (3) ध्यान का काल (4) ध्यान के आसन विशेष, (5) ध्यान का आलंबन, (6) ध्यान का क्रम, (7) ध्यातव्य/ध्येय, (8) ध्याता, (9) अनुप्रेक्षाएँ, (10) ध्यानी की लेश्या, (11) ध्यानी के लिंग, (12) ध्यान का फल।

इन्हीं 12 द्वारों के आश्रय से क्रमशः प्रकृत धर्मध्यान की व्याख्या की गई है। (गाथा–28–29)

(1) धर्म ध्यान की भावना– ध्यान के पूर्व जिसने भावनाओं के द्वारा अथवा उनके विषय में अभ्यास कर लिया है वह ध्यान की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। वे भावनाएँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य रूप हैं।

इनमें ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास का नाम ज्ञानभावना है। ज्ञानभावना के निरंतर अभ्यास से ध्याता की मति निश्चल होती है, मन का निग्रह व तत्त्व अतत्त्व का रहस्य जानने वाली अष्टांग विशुद्धि प्राप्त होती है। वस्तु के यथार्थ श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। शंका–कांक्षा आदि पाँच दोषों से रहित एवं प्रशम, स्थैर्यादि गुणों के समूह से युक्त होकर उस दर्शनाराधन को दर्शन–भावना कहते हैं। दर्शनभावना के बल से ध्याता कभी मूढ़ता/विपरीतता को प्राप्त नहीं होता।

संपूर्ण सावद्ययोग की निवृत्ति रूप क्रिया का नाम चारित्र है और उसके अभ्यास का नाम चारित्र भावना जानो। चारित्र भावना के बल से पुराने कर्मों की निर्जरा, शुभकर्मों का आस्त्रव होता है तथा अभिनव कर्मों का ग्रहण नहीं होता। यह सब बिना किसी प्रयत्न के अर्थात् अनायास ही होता है।

संसार के स्वभाव को जानकर विषयासक्ति से रहित होना, यही वैराग्यभाव है। वैराग्य भावना से सुवासित चित्त वाला जीव सदा निःसंग और निर्भय होता है तथा वह संपूर्ण सुखाभिलाषाओं से रहित होता है और वही ध्यान में सुनिश्चित होता है। (गाथा–30–34)

(2) धर्मध्यान का परिकर्म/देश– मुनि का स्थान सदा ही युवती, नपुंसक, पशु और जुवारी आदि कुशीलजनों से रहित होना चाहिए; यह सामान्य नियम है किन्तु विशेष रूप से ध्यान के समय वह स्थान उपर्युक्त जनों से निर्जन कहा है। जो स्थान प्राणिवध से रहित हो, जहाँ त्रययोग का समाधान हो, ध्याता के लिए वही स्थान श्रेष्ठ है। किन्तु विशेष यह है कि जिनके त्रय योग सुस्थिर हों, जिनका मन ध्यान में अतिशय निश्चल हो, एकाग्र हो, ऐसे दिगम्बर श्रमण ग्राम में, जनाकीर्ण, स्थान में अथवा शूने वन में अर्थात् कहीं भी ध्यान कर सकते हैं। (गाथा 35–37)

(3) धर्मध्यान का काल– जो कुछ स्थान के विषय में कहा है वही काल के विषय में जानों अर्थात् जिसमें योगों का समाधान हो ध्यान के लिए काल भी वही उपयोगी है। इसके सिवाय ध्याता के

लिए दिन व रात्रि की बेलादि का कोई नियम निर्दिष्ट नहीं है। (गाथा–38)

(4) धर्मध्यान के आसन विशेष– जो भी आसन अथवा अवस्था ध्यान में बाधक नहीं हो उस स्थिति में खड़े होकर, बैठकर अथवा जैसी भी अवस्था हो कायोत्सर्ग पूर्वक ध्यान करना चाहिए। कारण कि सभी देश, काल और आसन में विद्यमान होते हुए श्रमणों ने पापों की क्षपणा करके उत्कृष्ट केवलज्ञानादि को प्राप्त किया है। इसीलिए आगम में ध्यान के योग्य देश, काल और आसन विशेष का कोई आग्रहपूर्ण नियम नहीं है, वहाँ इतना मात्र वर्णन है कि जिस प्रकार से भी योगों का समाधान अर्थात् उनकी चंचलता रुके उसी प्रकार प्रवृत्ति करनी चाहिए। (गाथा–39–41)

(5) धर्मध्यान के आलंबन– ध्यान के योग्यालंबन की चर्चा करते हुए कहा है कि वाचना, पृच्छना, परिवर्तना और अनुप्रेक्षा (अनुचिंता) तथा समायिकादि सद्धर्मावश्यक ये सभी धर्मध्यान के आलंबन हैं। तत्पश्चात् उदाहरण देकर कहा कि जिस प्रकार बलवती नसैनी, रस्सी आदि का आलंबन लेकर विषयों से ऊपर चढ़ जाता है (विषम क्षेत्र पार कर जाता है) उसी प्रकार ध्याता भी आत्मा का आश्रय लेकर उत्तम ध्यान में आरूढ़ होता है। (गाथा 42–43)

(6) धर्मध्यान के क्रम– लाघव की दृष्टि से धर्मध्यान के साथ यहाँ शुक्लध्यान के क्रम का निरूपण करते हुए कहा कि केवलियों के मुक्ति की प्राप्ति में जब अंतर्मुहूर्त शेष रहता है तब मनोयोग आदि का वे जो क्रम से निग्रह करते हैं वही शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम है तथा समाधि के अनुसार जैसे भी स्वस्थता प्राप्त हो तद्नुसार धर्मध्यानियों के ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम जानो (गाथा 44)

(7) धर्मध्यान का ध्येय– ध्यान के योग्य विषय अर्थात् ध्येय को ध्यातव्य कहते हैं तथा आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान के भेद से वह चार प्रकार का है। इनके चिंतन और अर्थात् विचय से धर्मध्यान के आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय इस प्रकार 4 भेद बनते हैं।

आज्ञाविचय धर्मध्यान

आज्ञा का अर्थ जिनवचन है। उस जिनवचनों का चिंतन आज्ञा विचय है। जो सुनिपुणा, अमिता, अजिता, अनादिनिधना, हितकारी, अनर्घा, महार्था, महानुभावा, महाप्रमेया, निरवद्या है तथा जो नय, भंग, प्रमाण और गम से गहन है ऐसी जगत् के प्रदीप स्वरूप जिनाज्ञा के विषय में मतिज्ञान की दुर्बलता से आचार्य के विरह से, ज्ञेय पदार्थों की गहनता से, ज्ञानावरणोदय से अथवा हेतु और उदाहरण की असंभवता से यदि मतिमान् ध्याता उक्त विषय में ठीक से न जान सके तो सर्वज्ञ वचन ही सत्यार्थ है' ऐसा चिंतन करें क्योंकि प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखने वाले सर्वज्ञ राग, द्वेष और मोह से सर्वथा रहित हो चुके हैं इसलिए वे अन्यथावादी नहीं होते हैं। (गाथा–45–49)

अपायविचय धर्मध्यान

मिथ्यात्व और पापादि के त्यागी श्रमणों को राग, द्वेष, कषाय और आस्रवादि क्रियाओं में विद्यमान जीवों के इस परलोक में होने वाले अपाय (दुःखों) का चिंतन करना चाहिए। यह अपायविचय धर्मध्यान

है। (गाथा–50)

विपाकविचय धर्मध्यान

प्रकृति आदि भेदों को प्राप्त हुआ कर्मबंध शुभ–अशुभ इन दो भागों में विभक्त होने वाला है, ऐसे कर्मोदय अर्थात् विपाक का चिंतन विपाकविचय धर्मध्यान जानो। (गाथा–51)

संस्थानविचय धर्मध्यान

चरम ध्यातव्य की चर्चा करते हुए 11 गाथाओं में कहा है कि धर्मध्यानी द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन, भेद, प्रमाण और उत्पादादि का तथा धर्मादि पंचास्तिकाय स्वरूप लोक स्थिति का विचार करता है। इसके अतिरिक्त जीव जो उपभोग स्वरूप, अनादिनिधन, शरीर से पृथक, अमूर्तिक तथा कर्त्ता–भोक्ता है उसका विचार करता हुआ उसका स्वकर्मवशात् जो संसार परिभ्रमण हो रहा है किस प्रकार से उसका उद्धार होवे इसका भी विचार करता है। इस प्रकार यहाँ पर संसार समुद्र की उपमा देकर दोनों की समानता का अच्छा चित्रण करते हुए उससे उबरने का उपाय बताया है तथा अंत में यह भी कहा कि किसी एक नय का आग्रह न करके चारों अनुयोगों का अनुसरण करके निष्पक्ष होकर ध्यान करना चाहिए। (गाथा–52–62)

(8) धर्मध्यान के ध्याता– सब प्रमादों से रहित मुनि, उपशान्तमोही तथा क्षीणमोही के यह धर्मध्यान होता है। अर्थात् छठवें गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान वाले क्षीण मोही तक के ज्ञानधन वाले श्रमण को वस्तु स्वरूप धर्म ध्यान में लीन ध्याता जानो। (गाथा–63)

(9) धर्मध्यान में अनुप्रेक्षा– अनुप्रेक्षा द्वार में मात्र इतना ही कहा है कि धर्मध्यान से सुभावित चित्त वाले मुनि ध्यान के उपरम होने पर भी निरंतर अनित्यादि भावनाओं का चिंतन करें। (गाथा–65)

(10) धर्मध्यानी की लेश्या– धर्मध्यानी के क्रम से उत्तरोत्तर विशुद्धि को प्राप्त होने वाली पीत, पद्म और शुक्ल से तीन लेश्याएँ होती हैं, जो तीव्र, मंद व मध्यम भेदों से सहित होती है। (गाथा–66)

(11) धर्मध्यानी के लिंग– लिंग का विवेचन दो भागों में विभक्त है। प्रथम अंतरंग व द्वितीय बहिरंग। आगम, जिनाज्ञा और निसर्ग रूप से जो जिनप्ररूपित पदार्थों का श्रद्धान है वह धर्मध्यानी का अंतरंग परिचायक हेतु है तथा जिनदेव, साधु और उनके गुणों का कीर्तन करना, प्रशंसा करना, विनय करना, श्रुतादि में रत होना इत्यादि धर्मध्यानी के बाह्य परिचायक हेतु हैं। (गाथा–67–68)

(12) धर्मध्यान का फल

लाघव की दृष्टि से इसका विवेचन शुक्लध्यान के फल में किया गया है। वहाँ कहा है कि शुभास्रव, संवर, निर्जरा और अमर के सुखादि, ये धर्मध्यान के शुभानुबंधी फल है। (गाथा–93)

गाथा क्र. 28 से गाथा क्र. 68 तक 41 गाथाओं में धर्मध्यान का निरूपण किया गया है। आगे 26 गाथाओं में शुक्लध्यान का वर्णन किया है।

(4) शुक्ल ध्यान

जिस प्रकार की प्ररूपणा पूर्वोक्त धर्मध्यान में की थी उसी प्रकार की प्ररूपणा अर्थात् द्वादश द्वार रूप

से शुक्ल–ध्यान की प्ररूपणा यहाँ करते हैं। उनमें से भावनाआदि चार द्वारों का विवेचन पूर्ववत् ही लगता है इसलिए लाघव की दृष्टि से अथवा प्रपंच के भय से उनकी व्याख्या न करके यहाँ शेष अधिकारों के ही आश्रय से शुक्लध्यान का निरूपण करते हैं। अब क्रम प्राप्त पाँचवें आलंबनादि का वर्णन करते हैं–

(5) शुक्लध्यान का आलंबन

जिनमत के प्रधानालंबन जो क्षांति (क्षमा), मार्दव, आर्जव और निर्लोभता (मुक्ति) कहे गए हैं, इनके द्वारा ही निर्ग्रंथ साधु शुक्लध्यान पर आरूढ़ होते हैं। (गाथा–69)

(6) शुक्लध्यान का क्रम

प्रथम दो शुक्ल–ध्यानों के क्रम का निरूपण करते हुए कहा है कि केवलियों के मुक्ति प्राप्ति में जब अन्तर्मुहूर्त शेष रहता है तब वे जो क्रम से मनोयोगादि का निग्रह करते हैं, वहीं पृथक्त्व–वितर्क–सविचार और एकत्व–वितर्क–अविचार शुक्लध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम है। इसके पश्चात् अंतिम दो, शुक्लध्यानों के क्रम के लिए कहा कि मन का विषय जो तीनों लोक है उसका छद्मस्थ ध्याता क्रम से संकोच करता हुआ उस मन को परमाणु में स्थापित करता है और अतिशय स्थिरतापूर्वक ध्यान करता है। तत्पश्चात् केवली जिन उसे परमाणु से भी हटाकर उस मन से सर्वथा रहित होते हुए अंतिम दो शुक्लध्यानों के ध्याता हो जाते हैं। वह छद्मस्थ किस प्रकार यह करता है इसे आगे दृष्टांत के माध्यम से स्पष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार समस्त शरीर में व्याप्त–विष को मंत्र के द्वारा डंक स्थान में रोक दिया जाता है, तत्पश्चात् उसे प्रधान मंत्र के द्वारा उस डंक–स्थान से भी हटाया जाता है, उसी प्रकार तीनों लोकरूप शरीर में व्याप्त मनरूप विष को ध्यानरूप मंत्र के बल से युक्त ध्याता डंक स्थान के समान परमाणु में रोक देता है और तत्पश्चात् जिनरूप वैद्य (मांत्रिक) उसे उस परमाणु से भी हटा देता है। पुनः जल और अग्नि के दृष्टांत द्वारा इसको पुष्ट करते हुए कहा कि जिस प्रकार नालिका में स्थित जल क्रम से वाष्प बनकर क्षीण हो जाता है उसी प्रकार क्रमशः योग जल को ध्यानग्नि से किया जाता है। अंत में यह कहा है कि मन का निरोध होने पर पुनः वचनयोग और काय योग का भी क्रमशः निरोध करके वह शैल के समान स्थित होता हुआ शैलेशी केवली हो जाता है। (गाथा–70–76)

(7) शुक्ल–ध्यान का ध्येय

इसे ध्यातव्य भी कहते हैं। शुक्लध्यान में भी ध्यातव्य के चार भेद कहे हैं। एक वस्तु में उत्पादि पर्यायों का अनेक नयों के अनुसरण से जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिंतन है वह प्रथम पृथकत्व–वितर्क–सविचार शुक्ल–ध्यान है। वीतराग के होने वाले इस ध्यान में चूँकि अर्थ से अर्थांतर, व्यंजन से व्यंजनांतर और योग से योगांतर में संक्रमण होता है अतः उसे सविचार कहा गया है। (गाथा–77–78)

वायु से रहित घर के दीपक के समान जो पुनः चित्त को उत्पादादि में से किसी एक पर्याय में अतिशय स्थिर करता है वह द्वितीय शुक्लध्यान है। इस एकत्व–वितर्क–अविचार नामक शुक्लध्यान में अर्थ से अर्थांतरादि का संक्रमण नहीं होता, अतएव श्रुत का आलंबन लेने वाला यह शुक्ल–ध्यान अविचार कहा

गया है। (गाथा–79–80)

मुक्ति गमन के काल में कुछ योग निरोध करने वाले सूक्ष्मकाय की क्रिया से संयुक्त केवली के तृतीय सूक्ष्म क्रिय–अनिवर्ति नामक शुक्ल ध्यान होता है। (गाथा–81)

उन्हीं केवली के शैल के समान अचल होकर शैलेशी अवस्था के प्राप्त होने पर व्युच्छिन्न–क्रिय–अप्रतिपाति नामक चरम शुक्लध्यान होता है। (गाथा–82)

इसी ध्यातव्य के वर्णन में इनके स्वामी का वर्णन करते हुए कहा कि प्रथम शुक्लध्यान एक योग में अथवा सब योगों में संभव है, द्वितीय शुक्लध्यान तीनों योगों में से किसी एक योग में होता, तृतीय शुक्लध्यान काययोग में तथा चरम शुक्लध्यान योग रहित अयोगी जिन के होता है। (गाथा–83)

आगे तीन गाथाओं में मन के अभाव होने पर भी तृतीय, चतुर्थ शुक्लध्यान की संभवता बतलाते हुए कहा कि जिस प्रकार छद्मस्थ के अतिशय निश्चल मन को ध्यान कहा जाता है उसी प्रकार केवली के अतिशय निश्चल काय को ध्यान कहा जाता है क्योंकि दोनों में योग की अपेक्षा से अभिन्नत्व है। अब जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि अयोगी जिन के तो काय भी नहीं है फिर वहाँ चरम शुक्लध्यान कैसे होएगा? इसका परिहार करते हुए आगे कहा कि पूर्वप्रयोग, कर्मनिर्जरा का सद्भाव, शब्दार्थबहुलता और जिनचंद्रागम; इत्यादि हेतुओं के द्वारा सयोग व अयोग केवलियों के चित्त का अभाव हो जाने पर भी जीवोपयोग का सद्भाव बना रहने से क्रमशः सूक्ष्मक्रियानिवर्ति तथा व्युच्छिन्न–क्रियाप्रतिपादि ये दो शुक्लध्यान कहे जाते हैं। (गाथा–84–86)।।

(8) शुक्लध्यान के ध्याता

जो धर्मध्यान के ध्याता हैं वे ही सुप्रशस्त संहनन से युक्त होते हुए तथा चौदह पूर्वों के पारगामी होते हुए प्रथम व द्वितीय शुक्लध्यान के ध्याता होते हैं। अवशेष ध्यानों के ध्याता क्रमशः सयोगीजिन तथा अयोगी जिन होते हैं। (गाथा–64)

(9) शुक्लध्यान में अनुप्रेक्षा

शुक्लध्यान से सुभावित चित्त वाला जीव ध्यानोपरत होने पर सतत् ही आस्रवद्वारापाय, संसाराशुभानुभाव, अनंतभवसंतान और वस्तुविपरिणाम इन चार अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करता है। (गाथा–87–88)।

(10) शुक्लध्यानी की लेश्या

प्रारंभ के दो शुक्लध्यान में शुक्ललेश्या होती है। तीसरे में परमशुक्ल लेश्या तथा चरम शुक्लध्यान लेश्या से रहित है। (गाथा–89)

(11) शुक्लध्यानी के लिंग

प्रथम तो अवध, असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग इन चार लिंगों की चर्चा की गई, तत्पश्चात् इनका स्वरूप वर्णन है। (गाथा–90–92)

(12) शुक्लध्यान का फल

शुभास्रव, संवर, निर्जरा और देवसुख ये जो शुभानुबंधी धर्मध्यान के फल हैं विशेषरूप से वे ही शुभास्रव आदि तथा अनुत्तर देवसुख ये प्रथम दो शुक्लध्यानों के फल हैं। निर्वाण की उपलब्धि अंतिम दो शुक्लध्यानों का फल है। (गाथा–92–94)

इस प्रकार शुक्लधयान की प्ररूपणा हुई। आगे दृष्टांत के माध्यम से शुक्लध्यान को निर्वाण का हेतु बताया है।

दृष्टांत तथा उपसंहार

अंत के दो ध्यान अर्थात् धर्म्य–शुक्ल ध्यान संसार के विरोधी हैं, मुक्ति के कारण हैं; क्योंकि जो मिथ्यात्वादि आस्रव के द्वार, संसार के हेतु हैं, वे धर्म्य–शुक्ल ध्यान में असंभव हैं। संवर और निर्जरा मोक्ष का पथ है तथा तप से संवर और निर्जरा होती है और तप का प्रधान अंग ध्यान है, इसलिए जो तप है वह मोक्ष का ही हेतु है। (गाथा–95–96)। आगे सात उदाहरणों के माध्यम से उक्त वचन को पुष्ट किया है–

जिस प्रकार वस्त्रगत मैल को धोकर जल उसे स्वच्छ कर देता है, उसी प्रकार जीवन में संलग्न कर्म–फल को धोकर ध्यान उसे शुद्ध कर देता है।

जिस प्रकार लोहे के कलंक को अग्नि दूर कर देती है उसी प्रकार जीव से सम्बद्ध कर्म कलंक को ध्यान पृथक् कर देता है।

जिस प्रकार पृथ्वी के कीचड़ को भास्कर सुखा देता है उसी प्रकार जीवन में संलग्न कर्म पंक को ध्यान सुखा देता है। (गाथा–97/98)

जिस प्रकार ध्यान से योगों का तपन, शोषण और भेद होता है उसी प्रकार ध्यान से ध्याता के कर्मों का भी ताप, शोषण और भेद नियम से होता है। (गाथा–99)

जिस प्रकार रोगाशयों का शमन विशोषण, विरेचन औषध के सेवन से होता है उसी प्रकार कर्मामयों का शमन ध्यान व अनशनादि के निमित्त से होता है। (गाथा–100)

जिस प्रकार अपरिमित ईंधन को दावानल क्षण में जला देती है उसी प्रकार ध्यानाग्नि अपरिमित कर्म–ईंधन को क्षण में भस्म कर देती है। (गाथा–101)

अथवा जिस प्रकार मेघों के समूह वायु से ताड़ित होकर क्षणभर में विलय के प्राप्त हो जाते हैं उसी प्रकार ध्यान रूपी वायु से विघटित होकर कर्मरूपी मेघ भी विलीन हो जाते हैं। (गाथा–102)

इसके पश्चात् ध्यान का महात्म्य बतलाते हुए कहा गया कि जिसका चित्त ध्यान में संलग्न है, वह क्रोधादि से उत्पन्न होने वाली ईर्ष्या, विषादादि मानसिक दुःखों से पीड़ित नहीं होता है अथवा जिसका चित्त ध्यान में स्थिर है वह कर्मनिर्जरा की अपेक्षा रखता हुआ शीतोष्णादि बहुत प्रकार के शारीरिक दुःखों से भी

अबाधित होता है। (गाथा–103–104)।

अंत में उपसंहार रूप में यह कहा गया है कि संपूर्ण/निखिल गुणों के आधारभूत तथा दृष्ट और अदृष्ट सुख के साधकभूत अतिशय प्रशस्त ध्यान का सदा श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए तथा उसका चिंतन करना चाहिए। (गाथा–105)

झाणज्झयण और मूलाचार

आचार्य कुंदकुंद स्वामी अपर नाम वट्टकेर स्वामी (प्रायः प्रथम शती) रचित मूलाचार मुनि और आर्यिका के आचार–संबंधी महत्त्वपूर्ण व सबसे प्राचीन ग्रंथ है; जो कि मूलगुणादि बारह अधिकारों में विभक्त है। उसके पाँचवें पंचाचार नामक अधिकार में कुल 222 गाथाएँ हैं। उसमें तपाचार की प्ररूपणा करते हुए अंतरंग तप के जो छह भेद निर्दिष्ट किए गए हैं उनमें पाँचवाँ ध्यान है। वहाँ ध्यान के भेद व स्वरूप की प्ररूपणा संक्षेप में 12 गाथाओं (394–405) में की गई है।

झाणज्झयण पाहुड भी कुंदकुंद देव की ही कृति है। झाणज्झयण में जहाँ विस्तृत रूप से ध्यान की प्ररूपणा है, वहीं प्रसंग प्राप्त ध्यान का मूलाचार में बहुत संक्षेप में वर्णन है। विषय प्ररूपणा की पद्धति दोनों में कहीं समान तो कहीं असमान दिखती है।

झाणज्झयण में जहाँ चार प्रकार के ध्यानों का निर्देश करते हुए उनमें अंतिम दो ध्यानों को निर्वाण का साधन अर्थात् प्रशस्त तथा आर्त्त, रौद्र इन दो को संसार का कारणभूत अर्थात् अप्रशस्त कहा है (5) वहीं मूलाचार जी में भी सामान्य से चार ध्यानों के नामों का निर्देश करते हुए आर्त्त व रौद्र के अप्रशस्त तथा धर्म व शुक्ल को प्रशस्त कहा है (गाथा–394)।

मूलाचार में चारों ध्यानी की प्ररूपणा का क्रम तो सामान्य है किंतु आर्त्तध्यान के भेदों का क्रम असमान्य है। इसे देखते हैं।

झाणज्झयण में जहाँ आर्त्तध्यान के चार भेदों का नामनिर्देश नहीं किया, फिर भी उसके भेदों के स्वरूप का वर्णन पृथक्–पृथक् चार गाथाओं (6–9) में निर्दिष्टत है, उससे उसके चार भेद स्पष्ट हैं; वहीं मूलाचार जी में आर्त्तध्यान के चार भेदों का नामनिर्देश न करके सामान्य से उसका स्वरूप मात्र कहा है। उस स्वरूप को प्रगट करते हुए अमनोज्ञ के योग, इष्ट के वियोग, परीषह और निदान इन चार भेदों का जो दिग्दर्शन कराया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं। यथा–

अमणुण्ण जोगइट्ठविओग परिसहणिदाण करणेसु।
अट्टं कसायसहियं झाणं भणिदं समासेण॥395॥

किंतु यहाँ उनका कुछ क्रमव्यत्यय अवश्य है। जैसे झाणज्झयण में प्रथम भेद में अमनोज्ञ के वियोग, द्वितीय भेद में शूल रोगादि की वेदना के वियोग, तृतीय भेद में अभीष्ट विषयों की वेदना (अनुभवन) के अवियोग तथा अंतिम भेद में निदान के विषय में चिंतन कहा है। इस प्रकार मूलाचार में जो द्वितीय है, वह

झाणज्झयण में तृतीय हैं तथा मूलाचार में जो तृतीय हैं, वह झाणज्झयण में द्वितीय है।

इसके अतिरिक्त दोनों में वियोग और अवियोग विषयक भी कुछ विशेषता रही हैं। यथा– झाणज्झयण में अमनोज्ञ विषयों के वियोग के लिए तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में पुनः उनका संयोग के लिए तथा उनका वियोग हो जाने पर भविष्य में पुनः उनका संयोग न होने के विषय में जो चिंतन होता है उसे प्रथम आर्त्तध्यान कहा है किंतु मूलाचार में अमनोज्ञ का योग (संयोग) होने पर जो उसके विषय में संक्लेशरूप परिणति होती है उसे प्रथम आर्त्तध्यान कहा है। यहाँ केवल उक्तिभेद है, अभिप्राय में किंचित् भी भेद नहीं है अर्थात् अभिप्राय समान है।

अब रौद्रध्यान की व्याख्या की तुलना देखिए। झाणज्झयण में जहाँ रौद्रध्यान के चार भेदों का नामनिर्देश तो नहीं किया, फिर भी आगे वहाँ चार गाथाओं (19–22) के द्वारा उनके लक्षणों का जो पृथक्–पृथक् निर्देश किया गया है उससे उसके चार भेद स्पष्ट हो जाते हैं तथा आगे गाथा क्र. 23 में उनकी चार संख्या का भी निर्देश दिया है। यथा–

इय करण कारणाणुमय, विसमणुचिंतणं चउब्भेयं।
अविरइय देससंजय, जणमण संसेवियमधण्णं॥23॥

वहीं मूलाचार में यद्यपि आर्त्तध्यान के समान रौद्रध्यान के भी स्वरूप का सामान्य से निर्देश किया गया है, उसके भेदों का नामनिर्देश नहीं किया गया, फिर भी विषयक्रम के निर्देश से उसके चार भेद स्पष्ट दिखते हैं। यथा–

तेणिक्कमोस सारक्खणेसु तध चेव छव्विहारंभे।
रूद्दं कसायसहिदं झाणं भणिदं समासेण॥396॥

किंतु यहाँ भी उनका कुछ क्रमव्यत्यय दिखाई देता है। जैसे झाणज्झयण में प्रथम भेद में हिंसानंद द्वितीय भेद में मृषानंद, तृतीय भेद में स्तेयानंद तथा चतुर्थ भेद में संरक्षणानंद के विषय में चिंतन कहा है। मूलाचार में प्रथम भेद में स्तेयानंद, द्वितीय भेद में मृषानंद, तृतीय भेद में संरक्षणानंद तथा चतुर्थ भेद में छह प्रकार का आरंभ अर्थात् हिंसानंद के विषय में चिंतन कहा है। अतः झाणज्झयण में जो प्रथम है, मूलाचार में वह चतुर्थ है; झाणज्झयण में जो तृतीय है, मूलाचार में वह प्रथम है तथा झाणज्झयण में जो चतुर्थ है, मूलाचार में वह तृतीय है।

इसके सिवाय मूलाचार में चतुर्थ भेद का विषय जो छह प्रकार का आरंभ निर्दिष्ट किया है, उसे हिंसानंद का ही द्योतक जानना चाहिए।

अब धर्मध्यान की व्याख्या देखिए। झाणज्झयण में धर्मध्यान के चार भेदों का नामनिर्देश नहीं किया परंतु उसके प्ररूपक भावनादि बारह द्वारों के अंतर्गत ध्यातव्य द्वार की प्ररूपणा (45–62) में जो आज्ञा; अपाय, विपाक और द्रव्यों के लक्षण व संस्थान आदि के स्पष्टीकरण पूर्वक उनके चिंतन की प्रेरणा की गई है उससे उसके वे नाम स्पष्ट हो जाते हैं। किंतु मूलाचार जी में चारों प्रकार के धर्मध्यान के स्पष्टतया

नामनिर्देश करते हुए पृथक्-पृथक् भी उनके लक्षण कहे हैं। (398-402)।

विशेष इतना है कि झाणज्झयण में उसके द्वितीय भेद के लक्षण में राग-द्वेषादि में विद्यमान जीवों के उभय लोकों से समबद्ध अपायों को चिंतनीय निर्दिष्ट किया गया है (50) वहीं मूलाचार में कल्याणप्रापक उपायों, जीवों के उपायों और उनके सुख-दुःख को चिंतनीय कहा गया है। (400) यथा-

राग-द्दोस कसायासवादि किरियासु वट्टमाणाणं।
इह पर लोयापाए, झाएज्जो वज्ज-परिवज्जी।।झाण.50।।
कल्लाणपावगाओपाए विचिणादि जिणमदमुविच्च।
विचिणादि वा अपाये जीवाण सुहे य असुहे य।।मू/400।।

इसके अतिरिक्त मूलाचार में धर्मध्यान के चतुर्थ भेद के लक्षण को प्रगट करते हुए उसमें ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक के आकारादि के चिंतन के साथ अनुप्रेक्षाओं के चिंतन की भी आवश्यकता प्रगट की गई है व आगे उन अनित्यादि अनुप्रेक्षाओं के नामों का निर्देश भी किया है (402/403)। परंतु झाणज्झयण में व्यापक रूप में उसका व्याख्यान करते हुए यह कहा कि धर्मध्यानी को उसमें द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आसन, विधान, मान (प्रमाण) और उनकी उत्पादादि पर्यायों के साथ उर्ध्वादि भेदों में विभक्त लोक स्वरूप तथा जीव के स्वरूप उसके संसार परिभ्रमण के कारण इत्यादि का भी चिंतन करना चाहिए (52-62)। यहाँ अनुप्रेक्षा द्वार एक पृथक् ही है (65)।

अंत में शुक्लध्यान/चरम ध्यान की प्ररूपणा को देखिए। झाणज्झयण में शुक्लध्यान के आलंबन व क्रम आदि की चर्चा करते हुए ध्यातव्य के प्रसंग में पृथक्त्व-वितर्क-सविचार आदि चार प्रकार के शुक्लध्यान के पृथक्-पृथक् लक्षणों का भी निर्देश किया गया है (77-82)। किंतु मूलाचार में इस प्रसंग में मात्र इतना ही कहा कि उपशांतकषाय पृथक्त्व-वितर्क-विचार ध्यान का, क्षीणकषाय एकत्व-वितर्क अविचार ध्यान का, सयोग केवली तीसरे सूक्ष्मक्रिया ध्यान का और अयोगी केवली समुच्छिन्नक्रिया ध्यान का चिंतन करते हैं। (404-405)। मात्र शुक्ल ध्यान के स्वामी का निर्देश मूलाचार जी में है, किंतु झाणज्झयण में चारों के स्वामी का निर्देश है; शायद प्रसंग प्राप्त ध्यान की चर्चा के कारण मूलाचार में संक्षेप में इसका वर्णन किया है।

इन दोनों ग्रंथों में ध्यान के वर्णन में जहाँ कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है, वहाँ कुछ उसमें विशेषता भी उपलब्ध होती है। इसको देखते हुए भी एक ग्रंथ का दूसरे की रचना में कुछ प्रभाव रहा है, क्योंकि दोनों ग्रंथों के लेखक एक ही हैं, (आचार्य कुंद-कुंद देव)। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद कुंद-कुंद देव ने संक्षेप में मूलाचार में प्रसंग प्राप्त ध्यान की प्ररूपणा के पश्चात् कुंद-कुंद देव ने संक्षेप में मूलाचार में प्रसंग प्राप्त ध्यान की प्ररूपणा के पश्चात् सुविस्तृत विवेचना के लिए झाणज्झयण पाहुड लिखा हो।

झाणज्झयण और तिलोयपण्णत्ती

तिलोयपण्णत्ती आचार्य यतिवृषभ (2-3) शती प्रणीत अत्यंत प्राचीन तथा करणानुयोग का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें तीन लोक का और त्रेशठशलाका महापुरुषों का परिचयात्मक प्रतिपादन किया गया है। इस ग्रंथ की भाषा भी बहुत प्रौढ़ तथा सुव्यवस्थित है। यह ग्रंथ 9 महाधिकारों में विभाजित है।

अंतिम नवमें अधिकार में शांतिनाथ जिनेश को नमस्कार करके सिद्धलोक-प्रज्ञप्ति को कहने की प्रतिज्ञा की है। आगे सिद्धों की निवास भूमि, संख्या, अवगाहना, सौख्य और सिद्धत्व के हेतुभूत भावों का वर्णन है। जब सिद्धांत के कारणों का निरूपण किया गया वहाँ सर्वप्रथम जो गाथा है, उसमें ध्यान को प्रथम हेतुभूत कहा है। यह गाथा झाणज्झयण ग्रंथ से शब्दशः और अर्थशः प्रभावित है।

झाणज्झयण में कहा है कि जिस प्रकार चिरकाल से संग्रहित ईंधन दावानल से क्षण में जल जाता है उसी प्रकार कर्मेंधन को ध्यानानल क्षण में जला देती है। इसी प्रकार से तिलोयपण्णत्ती में भी कहा कि चिरसंचित ईंधन को पवन से आहत अग्नि जैसे शीघ्र ही जला देती है वैसे ध्यानाग्नि कर्मेंधन को क्षण मात्र में जला देती है। यथा-

जह चिरसंचिदमिंधण, मणलो पवणुग्गदो धुवं दहदि।
तह कम्मिंधण ममिदं, खणेण झाणावलो दहदि।।झा./101।।
जह चिरसंचिदमिंधण, मणलो पवणाहदो लहुं दहदि।
तह कम्मिंधणमहियं, खणेण झाणाणलो दहदि।।ति.प./9/18।।

झाणज्झयण और भगवती आराधना

भगवती आराधना (अपर नाम मूलाराधना) आचार्य शिवार्य (2-3री शती) के द्वारा विरचित एक अभूतपूर्व, अनुपम कृति है। इनके गुरु जिननंदि, सर्वगुप्त और मित्रनंदि थे। इस ग्रंथ में आराधक को लक्ष्य करके उसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप इन चार आराधनाओं का वर्णन 2164 गाथाओं में किया गया है। उनमें भी समाधिमरण के प्रमुख होने के कारक क्षपक के आश्रय से मूल पाँच मरण का वर्णन किया गया है यथा-

पंडिद पंडिदमरणं, पंडिदयं बालपंडिदं चेव।
बालमरणं चउत्थं, पंचमयं बालबालं च।।26।।

अर्थात् पंडित-पंडितमरण, पंडितमरण, बालपंडित मरण, बालमरण तथा बाल-बालमरण, ये पाँच मरण हैं।

उक्त पाँच मरणों के प्रभेद करने पर ये सतरह (17) प्रकार के हो जाते हैं। इनमें से चौदहवें मरण में अर्थात् भक्त-प्रत्याख्यान मरण में कहा कि जो संसार चक्र के दुःखों से डरता है वह संक्लेशता का हरण

करने वाले धर्म और शुक्ल ध्यान को ध्याता है। इस प्रकार भगवती आराधना में ध्यान का वर्णन प्रारंभ करते हुए 1889 गाथा पर्यंत 220 गाथाओं में ध्यानादि का वर्णन है।

झाणज्झयण की तरह प्रसंगानुसार भगवती आराधना में भी ध्यान का आलंबन, ध्यातव्य, ध्याता, अनुप्रेक्षा, लेश्या, लिंग, फल इत्यादि की व्याख्या मिलती है। इसे यहाँ संक्षेप से देखते हैं–

भगवती आराधना में कहा कि अनिष्ट संयोग, इष्टवियोग, परीषह (वेदना) और निदान से संक्षेप में कषाय सहित आर्त्तध्यान के चार भेद हैं तथा चोरी, झूठ, हिंसा का रक्षण तथा छह प्रकार के आरंभ को लेकर संक्षेप में कषाय सहित रौद्रध्यान के भी चार भेद कहे हैं। ये आर्त्त–रौद्र ध्यान सुगति में विघ्न डालने वाले हैं अर्थात् तिर्यंच व नरक गति में सहायक हैं (गाथा–1697–1699)। यह प्रकरण झाणज्झयण से मिलता–जुलता है, मात्र यहाँ क्रम का कुछ हेर–फेर है।

इसी प्रकार धर्म–ध्यान और शुक्ल ध्यान के प्ररूपण में काफी समानताएँ मिलती हैं जिन्हें पाठक स्वयं पढ़कर समझ जाएँगे।

झाणज्झयण में धर्मध्यान के परिचायक हेतुओं की चर्चा करते हुए कहा कि आगम, उपदेश, जिनाज्ञा और निसर्ग से जो धर्मध्यानी के जिनोपदिष्ट पदार्थों का श्रद्धान है वह उसके लिंग हैं। (67)।

इसी प्रकार भगवती आराधना में भी परिचायक हेतुओं के निर्देशन में आर्जव, लघुता, मार्दव के साथ उपदेश और जिनागम में रुचि होना यह भी रखा है।

इसी प्रकार आलंबन आदि के व्याख्यान में भी बहुत समानताएँ हैं 'कुछ शब्दशः और अर्थशः'। कुछ गाथाओं को यहाँ दर्शाते हैं–

आगम उवएसाणा, णिसग्गओ जं जिणप्पणीदाणं।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं॥67।झा.॥
धम्मस्स लक्खणं से, अज्जवलहुगत्तमद्दवुवदेसा।
उवदेसणा य सुत्ते, णिसग्गजाओ रुचीओ दे॥1704॥भ.आ.॥
आलंबणाणि वायण, पुच्छण–परियट्टणाणुपेहाओ।
सामाइयादियाइं, सद्धम्मावस्सयाइं च॥42।झा.॥
आलंबणं च वायण, पुच्छण, परिवट्टणाणुपेहाओ।
धम्मस्स तेण अविरुद्धाओ सव्वाणेहाओ॥1705/भ.आ.॥

यहाँ शुक्ल ध्यान निरूपण में समानता देखिए–

णिव्वाण गमण काले, केवलिणो वादणिरूद्धजोगस्स।
सुहुम किरियाणियट्टिं, तदियं तणु–काय–किरियस्स॥181/झा.।
तस्सेव च सेलेसीगदस्स, सेलोव्व णिप्पकंस्स।
वोच्छिण्ण किरियमप्पडिवादी झाणं चरम सुक्कं॥82/झा.।

सुहुमम्मि कायजोगे, वट्टंतो केवली तदिय सुक्कं।
झायदि णिरुंभिदुं, जे सुहुमत्तं कायजोगं पि।।1881/भ.आ.।
आवियक्कमविचारं, अणियट्टिमकिरियं च सीलेसिं।
झाणं णिरुद्धजोगो, सरीरतियणासणं करेमाणो।
सव्वण्हु–अपडिवादी, झायदि ज्झाण चरिम सुक्कं।।1883/भ.आ.।

अंत में जिस प्रकार उपसंहार रूप में झाणज्झयण में दृष्टान्तों का वर्णन है ठीक इसी प्रकार भगवती आराधना में क्षपक के लिए दृष्टांतों का वर्णन है। अतएव दोनों ग्रन्थों में जो विषय विवेचन की पद्धति तथा भावों की समानता प्राप्त होती है। उससे झाणज्झयण का प्रभाव भगवती आराधना (मूलाराधना) में स्पष्ट दिखता है।

झाणज्झयण और तत्त्वार्थसूत्र

आचार्य उमास्वामि (2–3री शती) द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्र जैन दर्शन का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें जैन आचार और जैन तत्त्वज्ञान के सभी पहलुओं पर 10 अध्यायों में, 357 सूत्रों में विचार किया गया है। यह सुनिश्चित है कि जैनागमश्रुत की प्रमुख भाषा शौरसैनी प्राकृत रही है तथा इसके आधार से आरातीय आचार्यों ने जो अंगबाह्यश्रुत लिपिबद्ध किया है वह भी प्रायः शौरसैनी प्राकृत भाषा में ही लिखा है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र (अपर नाम मोक्षशास्त्र) जैन परम्परा के उपलब्ध साहित्यों में संस्कृत भाषा में रचा गया सर्वप्रथम ग्रन्थ है। इसमें मुक्ति के प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों की संक्षेप में विवेचना है। यहाँ नौवें अध्याय में संवर और निर्जरा के कारणभूत द्वादश तप के वर्णन में जो ध्यान का संक्षेप में 27–47 सूत्रपर्यंत 21 सूत्रों में व्याख्यान है वह झाणज्झयण से काफी प्रभावित है। इन सूत्रों को क्रमशः तुलना करते हुए आगे कहते हैं–

झाणज्झयण में गाथा 2 और 3 में कहा कि जो स्थिर अध्यवसान रूप है वह ध्यान है। किसी एक वस्तु में अन्तर्मुहूर्त पर्यंत जो चित्त का अवस्थान है वह छद्मस्थों का ध्यान है। यही बात तत्त्वार्थ सूत्र के रोकना ध्यान है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक होता है।। यथा–

अंतोमुहुत्तमेत्तं, चित्तावत्थाण मेग–वत्थुम्मि।
छदुमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणं तु।।झा/3।।
''उत्तमसंहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधोध्यानमान्तुर्मुहूर्तात्।।त.सू./9/27

झाणज्झयण में कहा कि आर्त्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान, ये ध्यान के चार भेद हैं। उनमें अंत के दो ध्यान मोक्ष के और आर्त्त, रौद्र, ध्यान संसार परिभ्रमण के हेतु हैं। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में उक्त व्याख्या को दो सूत्रों में करते हुए कहा कि आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ये ध्यान के चार भेद हैं। उनमें से पर अर्थात् अन्त के दो ध्यान मोक्ष के हेतु हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व के दो ध्यान मोक्ष के कारण नहीं हैं अर्थात् संसार के ही हेतु हैं। यथा–

अट्टं रुद्दं धम्मं, सुक्क झाणाइं तत्थ अंताइं।
णिव्वाण साहणाइं, भवकारणभट्टरुद्दाइं।।झा./5।।
आर्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि।।त.सू./9/28।।
परे मोक्षहेतू।।त.सू./9/29।।

(1) आर्त्तध्यान : आगे झाणज्झयण में आर्त्तध्यान के भेदों का निर्देशन नहीं करते हुए उनके स्वरूप का वर्णन चार गाथाओं में किया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में भी 4 सूत्रों में इसका वर्णन है किन्तु निर्देश वहाँ भी नहीं है। विशेष इतना है कि दोनों में क्रम का भेद है। जो झाणज्झयण में द्वितीय है वह तत्त्वार्थसूत्र में तृतीय है तथा जो तत्त्वार्थसूत्र में द्वितीय है वह झाणज्झयण तृतीय है। इन्हें यहाँ विस्तार से विचारते हैं–

(I) प्रथम आर्त्तध्यान के स्वरूप विवेचन में झाणज्झयण में कहा है कि अमनोज्ञ विषयों का संयोग होने पर उनके वियोग की जो चिंता होती है तथा उनका संयोग पर के न हो ऐसा चिंतन करना प्रथम आर्त्तध्यान है। इसको संक्षेप में करते हुए तत्त्वार्थ सूत्र में कहा कि अमनोज्ञ पदार्थ के प्राप्त होने पर उसके वियोग के लिए चिन्तासातत्य का होना प्रथम आर्त्तध्यान है। यथा–

अमणुण्णाणं सद्दादि, विसयवत्थूण दोसमइल्लस्स।
धणिदं वियोग चिंतण, मसंपओगाणुसरणं च।।झा./6।।
आर्त्तममनोज्ञस्य संप्रयोगे तद्विप्रयोगाय स्मृतिसमन्वाहारः।।त.सू./9/30।।

(II) झाणज्झयण में कहा कि अभीष्ट विषयों का संयोग होने पर उनका भविष्य में कभी वियोग न होने विषयक तथा वर्तमान में यदि उनका संयोग नहीं है तो उनकी प्राप्ति किस प्रकार हो, इसके लिए भी जो चिन्ता है उसे इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहा है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में भी संक्षेप में कहा कि मनोज्ञ वस्तु के वियोग होने पर उसकी प्राप्ति की सतत चिंता करना इष्ट वियोग चिंतन आर्त्तध्यान है। यथा–

इट्ठाणं विसयादीण, वेयणाए य रायरत्तस्स।
अविओगज्झवसाणं, तह संयोगाभिलासो य।।झा./8।।
विपरीतं मनोज्ञस्य।।त.सू./9/31।।

(III) रोगजनित पीड़ा के होने पर उसके वियोग की चिंता के साथ भविष्य में उसके पुनः संयोग न होने की भी जो चिंता होती है, उसे झाणज्झयण में वेदना अन्य आर्त्तधयान कहा गया है। इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में कहा कि वेदना के होने पर उसे दूर करने के लिए सतत चिन्ता करना तृतीय आर्त्तध्यान है। यथा–

तह सूल–सीसरोगाइ, वेयणाए विओगे पणिधाणं।
तदसंपओग चिंता, तप्पडियाराउलमणस्स।।झा./7।।
वेदनायाश्च।।त.सू./9/32।।

(IV) संयम के परिपालन अथवा तपश्चरणादि अनुष्ठान के फलस्वरूप इंद्र व चक्रवर्ती आदि की विभूति विषयक प्रार्थना करना, इसे झाणज्झयण में निदानजन्य आर्त्तध्यान कहा है। तत्त्वार्थसूत्र में मात्र इतना कहा है कि निदान नाम का चौथा आर्त्तध्यान है; इसका खुलासा टीकाकार ने किया है। यथा–

देविदं चक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धि पत्थणमइयं।
अहमं णिदाणचिंतण, मण्णाणणुगदमच्चंतं।।झा./9।।
निदानं च।।त.सू./9/33।।

आर्त्तध्यान के स्वामी

अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत इन गुणस्थानों में उक्त आर्त्तध्यान की संभावना जो झाणज्झयण में कही है वैसी ही तत्त्वार्थसूत्र में भी प्रगट की गई है। यथा–

तदविरद–देसविरदप्पमाद परसंजमाणुगं झाणं।।झा./18।।
तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम्।।ता.सू./9/34।।

(2) रौद्रध्यान :

झाणज्झयण में 9 गाथाओं में रौद्रध्यान के भेद, स्वामी, लेश्या, लिंग आदि का वर्णन विस्तार से किया गया है (गाथा 19–27); वहीं तत्त्वार्थसूत्र में मात्र एक सूत्र में रौद्रध्यान के भेद व स्वामी का वर्णन है। यथा–

हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरतदेशविरतयोः।। त.सू./9/35।।

(3) धर्मस्थान :

झाणज्झयण में धर्मध्यान की प्ररूपणा में भावना, देशकाल आदि द्वादश द्वार का विस्तृत वर्णन (28–68) 41 गाथाओं में किया है, जिसमें ध्यातव्य नामक द्वार में चार प्रकार के धर्मध्यान का वर्णन है किंतु धर्मध्यान के चार भेदों का निर्देश मात्र करके तत्त्वार्थसूत्र में एक सूत्र में इस प्रकरण को समाप्त कर दिया है। यथा–

आज्ञापायविपाक संस्थानविचयाय धर्म्यम्।।ता.सू./9/36।।

(4) शुक्लध्यान :

स्वामी– झाणज्झयण में शुक्ल ध्यान के भेदों के विवेचन के पूर्व उसके स्वामी पर विचार करते हुए कहा कि पूर्वोक्त धर्म ध्यान के ध्याता प्रथम दो शुक्ल ध्यान के स्वामी होते हैं तथा वे अतिशय प्रशस्त संहनन व पूर्वधर अर्थात् श्रुतकेवली होते हैं। शेष दोनों शुक्ल ध्यान क्रमशः सयोग केवली व अयोग केवली के होते हैं। इसी पद्धति के आलंबन को लेकर तत्त्वार्थसूत्र में अगले दो सूत्रों में झाणज्झयण की गाथा क्र. 64 का सार कहते हुए लिखा है कि 'आदि के दो शुक्लध्यान पूर्वविद् अर्थात् श्रुतकेवली के होते हैं। शेष दो शुक्ल ध्यान केवली के होते हैं।' यथा–

ए एच्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थ संघयणा।
दोण्णि सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो।।झा./64।।
शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः।।त.सू./9/37।।
परे केविलनः।।त.सू./9/38।।

भेद : झाणज्झयण में शुक्लध्यान के भेदों के स्वरूप का विवेचन 6 गाथाओं (77–82) में विस्तार से किया है वहीं तत्त्वार्थसूत्र में पूर्व की तरह यहाँ निर्देश मात्र की चर्चा है। यथा–

पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवर्तीनि।। त.सू./9/39।।

योगाश्रित स्वामी :

झाणज्झयण में कहा है कि प्रथम शुक्लध्यान एक योग में अथवा तीनों योगों में, द्वितीय शुक्ल ध्यान मनोयोग में, तृतीय शुक्लध्यान काय योग में तथा चतुर्थ शुक्ल ध्यान योग रहित अवस्था में होता है; यही व्याख्या तत्त्वार्थसूत्र में भी कही है कि वे चार शुक्लध्यान क्रम से तीन योगवाले, एक योगवाले, काययोगवाले और अयोग के होते हैं। यथा–

पढमं जोगे जोगेसु, वा मयं विदियमेगजोगम्मि।
तदियं च कायजोगे, सुक्कमजोगग्गि य चदुत्थं।।झा./83।।
त्र्येकयोगकाययोगायोगानाम्।।त.सू./9/40।।

तत्त्वार्थसूत्र के 41 व 42 सूत्र का निरूपण भी झाणज्झयण से ही प्रभावित है क्योंकि तत्त्वार्थ सूत्र में कहा कि पहले के दो ध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क और सविचार होते हैं तथा दूसरा ध्यान अविचार है अर्थात् द्वितीय शुक्लध्यान एक आश्रयवाले, सवितर्क और अविचार होता है। यह कथन झाणज्झयण के शुक्ल ध्यान के ध्यातव्य में किया गया है। यथा–

उप्पादट्ठिदिभंगादि पज्जयाणं जमेगवत्थुम्मि।।झा./77।।
सवियारमरागभावस्स।।झा./78।।
एकाश्रये सवितर्कविचारे पूर्व।।त.सू./9/41।।
उप्पादट्ठिदि भंगादियाणमेगम्हिपज्जाए।।झा./79।।
एगत्तविदक्कमविचारं।।झा./80।।
अविचारं द्वितीयम्।।त.सू./9/42।।

अतएव पूर्वोक्त कथन से यह सुस्पष्ट होता है कि दिगंबराचार्य उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र में कुंद–कुंददेव विरचित झाणज्झयण पाहुड का प्रभाव है। कारण कि विषयवस्तु और उसका क्रम भी समान है। इसके अन्यत्र कुंद–कुंददेव कृत पंचास्तिकाय भी तत्त्वार्थसूत्र में झलकता है। अतः तत्त्वार्थसूत्र कर्ता ने झाणज्झयण का अनुसरण किया है इसमें कोई भी शंका नहीं है।

झाणज्झयण और धवला जी का ध्यान प्रकरण

आचार्य भूतवलि–पुष्पदंत (प्रथम शती) विरचित छक्खण्डागम (षट्खण्डागम) पर झाणज्झयण कर्ता आचार्य कुंद–कुंददेव ने विशाल परिकर्म नाम की एक टीका लिखी थी जिसके कारण वे वट्टकेर (वृत्तिकार) इस उपाधि को प्राप्त हुए थे। दुर्भाग्य से वह टीका/वृत्ति वर्तमान में/प्रकृत में अनुपलब्ध है किंतु छक्खण्डागम पर आचार्य वीरसेन स्वामी (9वीं शताब्दी) द्वारा एक धवला नामक सुविस्तृत टीका रची गई है।

छक्खण्डागम के वर्गणा नामक पाँचवें खण्ड में एक कर्मानुयोगद्वार है। उसमें 10 कर्मभेदों के अंतर्गत 8वें तपःकर्म का निर्देश करते हुए उसे अभ्यंतर और बाह्य तप के भेद से बारह प्रकार का कहा गया है। उसकी व्याख्या करते हुए दिगंबराचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अभ्यंतर तप के पाँचवें भेदध्यान की प्ररूपणा ध्याता, ध्येय, ध्यान और ध्यानफल इन चार अधिकारों के द्वारा की है। तदनुसार वहाँ प्रथमतः ध्याता का विचार किया गया है। इस प्रसंग में उन्होंने 'एत्थ गाथा' तथा गाहाओ' कहकर झाणज्झयण की पंद्रह गाथाओं को उद्धृत किया है– 2, 30–34, 35–36, 37, 38, 39–40 और 41–43। इन उद्धृत गाथाओं का क्रम वहाँ कुछ इस प्रकार है– 12, 23–27, 17–18, 16, 19, 14–15 और 20–22।

आगे क्रमप्राप्त ध्येय का निरूपण है। तत्पश्चात् ध्यान का वर्णन किया गया है। उसमें से प्रथम आज्ञा–विचय धर्मध्यान के वर्णन में यहाँ 'एत्थ गाहाओ' कहकर झाणज्झयण की पाँच गाथाएँ उद्धृत हैं 45–49। इनका क्रम वहाँ 33–37 है। द्वितीय अपाय–विचय धर्मध्यान के विवेचन में झाणज्झयण की 50वीं गाथा उद्धृत है। इसका क्रम वहाँ 39 है। तृतीय विपाक–विचय धर्मध्यान की प्ररूपणा में झाणज्झयण की 51वीं गाथा उद्धृत है। इसका क्रम वहाँ 41 है। अंतिम धर्मध्यान के विवेचन में वहाँ झाणज्झयण की 5 गाथाएँ (52–56) उद्धृत है। इसका क्रम वहाँ 43–47 है। आगे धवला जी में एक और गाथा 48 उद्धृत है जो कि झाणज्झयण की 2 गाथाओं से (57–58) से निष्पन्न हुई है। इसी प्रसंग में वहाँ झाणज्झयण की नौ गाथाएँ और भी उद्धृत हैं 62, 65, 3, 4, 66–68, 93 और 102। इनका क्रम धवला जी में 49, 50, 51–52, 53–55, 56 और 57 है।

शुक्लध्यान के वर्णन में धवलाकार आचार्य वीरसेन ने झाणज्झयण की 11 गाथाएँ उद्धृत की हैं– 69, 71–72, 75, 90–92, 100, 101, 103 और 104। इन गाथाओं का क्रम वहाँ 64, 75, 76, 61, 62, 63, 60, 59 इत्यादि है।

उद्धृत गाथाओं में पाठ भेद

धवला जी में उद्धृत झाणज्झयण की 47–48 गाथाओं में पाठ भेद है। उनमें ऐसे कुछ पाठ भेद भी हैं, जिससे वहाँ कुछ गाथाएँ असंगत सी प्रतीत हुई। हो सकता है, प्रतिलेखन की असावधानी से यह हुआ

हो। कुछ पाठ भेद ऐसे भी हैं जिसके कारण कोई अर्थभेद नहीं हुआ है यथा– लोया पाए–लोगापाए, झाएज्जो–ज्झाएज्जो, देसयाइ–देसियाइ, दीप–दीव, ट्ठियो–ठिओ इत्यादि।। किन्तु कुछ पाठ भेद ऐसे हैं जिसके कारण अर्थ भेद भी हुआ है। यथा– विसयेहि–विसमंहि, अत्तादिकयोलंबो– सुत्तादिकयालंबो, इत्यादि। इसके लिए एक तुलनात्मक तालिका आगे दी जा रही है जिससे पाठकों के लिए लाभ हो। साथ भविष्य में धवला पु. 13 के अन्य संस्करणों में आवश्यकतानुसार कुछ संशोधन भी किया जा सके।

झाणज्झयण गा.	झाणज्झयण पाठ	ध.पु.13 पृ.सं.	गाथा क्रमांक	धवला पाठ
2	चलंतयं	64	12	चलतयं
3	चित्तावत्थाण	76	51	चिंतावत्थाण
3	वत्थुम्मि	76	51	वत्थुम्हि
3	झाणं	76	51	ज्झाणं
4	चिंताझाणंतरं	76	52	चिंतज्झाणतरं
4	झाणसंताणं	76	52	ज्झाणसंताणं
30	झाणस्स	68	23	चरित्त
31	णाणे णिच्चब्भासो	68	24	णाणेयणिच्चभासो
31	णाणगुण	68	24	णाणा–गुण
31	झायदि	68	24	ज्झायइ
32	रहिदो	68	25	रहियो
32	वदियो	68	25	वईयो
32	झाणम्मि	68	25	ज्झाणम्मि
33	झाण	68	26	ज्झाण
34	सुविदिदजगस्सहावो	68	27	सुविदियजयस्सहावा
34	झाणम्मि	68	27	ज्झाणम्मि
35	चेव	66	17	विय
35	जुवदि	66	17	जुवइ
35	णपुंसग	66	17	णपुंसय
35	ठाणं	66	17	ट्ठाणं
35	विसेसओ	66	17	विसेसदो

36	झाणे सुणिच्चल	67	18	झाणेसु णिच्चल
36	जोगाणं	67	18	जोग्गाणं
37	जो	66	16	तो
37	जोगाणं	66	16	जोग्गाणं
37	झाय	66	16	ज्झाय
38	झाइणो	67	19	ज्झाइणो
39	झाणावरोहिणी	66	14	ज्झाणोवरोहणी
39	झाएज्जो	66	14	ज्झाएज्जो
39	ठिदो	66	14	ट्ठियो
40	मुणिणो	66	15	मुणओ
40	केवलादि	66	15	केयलादि
42	सुद्धम्मावस्सयाइं	67	21	सव्व आवासयाइं
43	विसयेहि	67	22	विसमंहि
43	अत्तादिक	67	22	सुत्तादिक
46	झाइएज्जो	71	34	ज्झाएज्जो
46	णयभंगपमाण गम गहणं	71	34	णयभंगसमाण गमगहणं
47	विरहिदो	71	35	विरहदो
47	णाणावरणोदएणं	71	35	णाणावरणादिएणं
48	हेदु–उदाहरणसंभवे	71	36	हेदुदाहरणसंभवे
48	सइ सुट्ठु जं ण	71	36	सरि सुट्ठुज्जाण
48	मवितहं	71	36	मवितत्थं
49	वादिणो	71	37	वाइणो
50	लोयापाए झाएज्जो	72	39	लोगावाएज्झाएज्जो
52	देसयाइ	73	43	देसियाइ
52	उप्पादट्ठिदि भंगादि	73	43	उप्पायट्ठिदिभंगादि
54	दीव	73	45	दीप
54	सायर णिरय विमाण	73	45	सायर सुरणरयविमाण
54	सायर णिरय विमाण	73	45	सायर णयरविमाण
54	णिययं	73	45	णिययण
55	भोइं च	73	46	भोइच्च

56	जस्स	73	47	तस्स
56	सावयमयं	73	47	सावमीणं
57	अण्णाणमारुदेरिद संजोग विजोगविचि संताणं	73	48	णाणमयकण्णहारं वरचारित्तमय महापोयं
57	विचिंतेज्जा	73	48	विचिंतेज्जो
62	किं बहुणा	73	49	किं बहुसो
65	परदो	73	50	परमो
65	होदि सुभाविद	73	50	होएसुभविय
65	धम्मज्झाणे पुव्विं	73	50	धम्मज्झाणेजिहवपुव्वं
67	उवएसाणा	76	54	उवदेसाणा
67	णिसग्गओ	76	54	णिसग्गदो
67	जिणप्पणीयाणं	76	54	जिणप्पणेयाणं
67	तं लिंग	76	54	तल्लिंगं
68	संपण्णो	76	55	संपण्णा
68	मुणेदव्वो	76	55	मुणेयव्वा
69	मुत्तीओ	80	64	मुत्तीयो
71	डंके	87	75	दंके
71	पहाणझर	87	75	पहाणयर
72	झाण	87	76	ज्झाण
72	अणुभागम्मि	87	76	अणुभावम्मि
91	परीसहोवसग्गेहिं	82	68	परिस्सहोवसग्गेहि
92	विवित्तं	82	69	विचित्तं
93	सुहाइं विउलाइं	77	56	सुहाविउद्धावि
100	विहीहिं	82	—	विहीहि
100	झाणाणसणादि जोगेहिं	82	—	ज्झाणणसणादि जोगेहि
101	ममिदं खणेण दावाणलो दहदि	82	65	मणलो पवणुग्गदो धुवं दहइ
102	झाणप्पवणोवहदा	82	57	ज्झाणप्पवणोवहया
103	य	77	67	वि
103	ण माणसेहि	82	70	माणसेहि

103	सोगादिएहिज्झाणो	82	70	सोगादिएहिज्झाणो
104	वि	82	71	मि
104	सारीरेहिं	82	71	सारीरेहि
104	साहू झेयम्मि	82	71	साहुज्झेयम्मि

अतएव 9वीं शती में हुए धवलाकार दिगंबराचार्य कलिकाल सर्वज्ञ श्री वीरसेन स्वामी के समक्ष जरूर ही कुंद-कुंददेव विरचित यह झाणज्झयण पाहुड उपलब्ध था, जिसको उन्होंने ध्यान की प्ररूपणा में सहायक बनाया।

झाणज्झयण व आदिपुराण का ध्यानप्रकरण

दिगंबराचार्य जिनसेन स्वामी (9वीं शती) द्वारा विरचित महापुराण आर्ष परम्परा का एक पौराणिक व साहित्यक ग्रन्थ है। वह आदिपुराण और उत्तरपुराण इन दो भोगों में विभक्त है। राजा बिम्बसार (श्रेणिक) के प्रश्न पर गौतम गणधर ने जो उसके लिए ध्यान का व्याख्यान किया था उसकी चर्चा करते हुए आदिपुराण के 21वें पर्व में जो विस्तार से ध्यान का निरूपण किया गया है वह झाणज्झयण में काफी प्रभावित दिखता है। इन दोनों की विवेचनपद्धति में बहुत कुछ समानता दृष्टिगोचर होती है। इतना ही नहीं, आदिपुराण में वहाँ ऐसे कितने ही श्लोक भी उपलब्ध होते हैं तो झाणज्झयण की गाथाओं के छायानुवाद जैसे हैं। कुछ श्लोक शब्दशः हैं, कुछ अर्थशः हैं। उन्हें यहाँ दर्शाते हैं-

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता।।झाण/2।।
स्थिरमध्यवसानं, यत् तद्ध्यानं यच्चलाचलम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिंता, भावणाहि झाणस्स जोग्गद-मुवेदि।
तादो य णाण-दंसण-चारित वेरग्ग जणिदाओ।।झाण/30।
भावनाभिरसंमूढो, मुनिर्ध्यानस्थिरी भवेत्।
ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वैराग्योपगताश्त ता.।आ.पु./21/95।।
णिच्चं चेव जुवदि पसु, णपुंसग कुसील वज्जिदं जदिणो।
ठाणं वियणं भणिदं, विसेसदो झाण-कालम्मि।।झाण/35।।
स्त्री-पशु-क्लीब संसक्त-रहितं विजनं मुनेः।
सर्व दैवोचितं स्थानं, ध्यान काले विशेषतः।।आ.पु./21/77।।
जच्चिय देहावत्था, जदा ण झाणावरोहिणी वोदि।

झाएज्जो तदवत्थो, ठिदो णिसण्णो णिव्वणो वा।।झाण/39।।
देहावस्था, पुनर्यैव, न स्याद् ध्यानोपरोधिनी।
तदवस्थो मुनिर्ध्यायेत्, स्थित्वाऽऽसित्वाऽधिशय्य वा।।आ.पु./21/75।।
सव्वासु वट्टमाणा, मुणिणो जं देस–काल–चेट्ठासु।
वर केवलादि लाहं, पत्ता बहुसो खविद पावा।।झाण./40।।
यद्देस–काल–चेष्टासु, सर्वास्वेव समाहिताः।
सिद्धाः सिद्धयन्ति सेत्स्यन्ति, नात्र तन्नियमोऽस्त्यतः।।आ.पु. 21/82।।
खिदिवलय दीव सायर, णिरय विमाण भवणादि संठाणं।
वोमादि पडिट्ठाणं, णियय़ं लोगट्ठिदि विहाणं।।झाण./54।।
द्वापाब्धि–वलयानद्रीन्, सरितश्च सरांसिच।
विमान–भवन–व्यन्तावास–नरकक्षितिः।।आ.पु./21/149।।
किं बहुणा सव्वं चिय, जीवादि पदत्थ–वित्थरो वेयं।
सव्व णय समूह मयं, झाएज्जो समय सब्भावं।।झाण./62।।
किमत्र बहुनोक्तेन सर्वोऽप्यागमविस्तरः।
नय–भंगशताकीर्णो, ध्येयोऽध्यात्मविशुद्धये।।आ.पु./21/154।।
जह सव्वसरीर गदं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोवणिज्जदि, पहाणझर–मंतजोएण।।झाण./71।।
तहबादर तणु विसयं, जोगविसं झाणमंतबलजुत्तो।
अणुभागम्मि णिरुंभदि, अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो।।झाण./72।।
सर्वाङ्गीणं विषं यद्वन्मन्त्रशक्त्या प्रकृष्यते।
तद्वत्कर्मविषं कृत्स्नं ध्यानशक्त्यापसार्यते।।आ.पु./21/214।।
जह वा घण संघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणप्पवणोवहया, तह कम्मघणा विलिज्जंति।।झाण./102।।
यद्वद् वाताहताः सद्यो, विलीयन्ते घनाघनाः।
तद्वत् कर्म–घनायान्ति, लयं ध्यानानिलाहताः।।आ.पु./21/213।।

झाणज्झयण में मंगल के पश्चात् सर्वप्रथम ध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए कहा है–

जं थिर मज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावना वा, अणुपेहा वा अहव चिंता।।2।।
अंतोमुहुत्तमेत्तं, चित्तावत्थाण मेगवत्थुम्मि।
छदुमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणं तु।।3।।

अंतोमुहुत्तपरदो, चिंता झाणंतरं वि होज्जा हि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु, संकमे झाणसंताणं॥4॥

अर्थ– जो स्थिर अध्यवसाय है वह ध्यान है। और जो अस्थिर चित्त है उसको ध्यान भावना, ध्यान, चिंता अथवा अनुप्रेक्षा जानो। किसी एक वस्तु में अंतर्मुहूर्त मात्र पर्यंत जो चित्त का अवस्थान होता है वह छद्मस्थों का मुख्य प्रशस्तध्यान है किंतु जिनदेव के यथासंभव योगों का जो निरोध है उसको ध्यान माना गया है। अंतर्मुहूर्त के पश्चात् जो एकाग्र चिंता है वह ध्यानांतर या ध्यान संतित को भी प्राप्त होती है तथा जो ध्यान संतति है वह बहुत दीर्घकाल तक भी बहुत वस्तुओं में संक्रमण रूप से प्राप्त होती है।

यह प्रकरण आदिपुराण में किंचित् परिवर्तन के साथ आया है–

ऐकाग्रयेण निरोधो, यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि।
तद् ध्यानं वज्रकं यस्य, भवेदान्तर्मुहूर्ततः॥8॥
स्थिरमध्यवसानं, यत् तद्ध्यानं यच्चलालम्।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा॥9॥
छद्मस्थेषु भवेदेतल्लक्षणं विश्वदृश्वनाम्।
योगास्त्रवस्य संरोधे, ध्यानत्वमुपचर्यते॥10॥

अर्थ :– तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु में जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है उसे ध्यान कहते हैं। वह ध्यान वज्रवृषभनाराचसंहनन वालों के अधिक से अधिक अन्तर्मुहूर्त तक ही रहता है।। जो चित्त का परिणाम स्थिर होता है उसे ध्यान कहते हैं और जो चंचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता, भावना अथवा चित्त कहते हैं। यह ध्यान छद्मस्थ अर्थात् बारहवें गुणस्थानवर्ती जीवों तक के होता है और तेरहवें गुणस्थानवर्ती सर्वज्ञ देव के भी योग के बल से होने वाले आस्त्रव का निरोध करने के लिए उपचार से माना जाता है।

ध्यान के भेद

आगे झाणज्झयण में ध्यान के भेद का निरूपण करते हुए कहा–

अट्टं रुद्दं धम्मं, सुक्क झाणाइं तत्थ अंताइं।
णिव्वाण साहणाइं, भव कारण मट्टरुहाइं॥5॥

अर्थ : आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान, ये चार प्रकार के ध्यान हैं। उनमें से धर्म्य और शुक्ल ध्यान तो निर्वाण सुख के साधन रूप में किन्तु आर्त्त, रौद्र, ध्यान संसार परिभ्रमण के कारण हैं।।

किन्तु आदिपुराण में कुछ अन्य प्रासंगिक चर्चा करते हुए कहा है–

चतुर्धा तत्खलु ध्यानमित्याप्तैरनुवर्णितम्।
आर्त्तं रौद्रं च धर्म्यं च, शुक्लं चेति विकल्पतः॥28॥

हेयमाद्यं द्वयं विद्धिर्दुर्ध्यानं भववर्धनम्।
उत्तरं द्वितयं ध्यान, मुपादेयं, तु योगिनाम्॥29॥

अर्थ : इस प्रकार जिनेंद्र भगवान् ने वह ध्यान आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल के भेद से चार प्रकार का वर्णन किया है। इन चार ध्यानों में से पहले दो अर्थात् आर्त्त और रौद्र ध्यान छोड़ने के योग्य हैं क्योंकि वे खोटे ध्यान हैं और संसार को बढ़ाने वाले हैं तथा आगे के दो अर्थात् धर्म्य और शुक्ल ध्यान मुनियों को भी ग्रहण करने योग्य हैं।

आर्त्तध्यान

झाणज्झयण में आर्त्तध्यान के भेदों का स्वरूप निरूपण करते हुए कहा–

अमणुण्णाणं सद्दादि, विसय वत्थूण दोस मइल्लस्स।
धणिगं वियोग चिंतण, मसंपओगाणुसरपंच॥6॥
तहसूल सीसरोगादि, वेयणाए विओगे पणिधाणं।
तदसंपओग चिंता, तप्पडियाराउलमणस्स॥7॥
इट्ठाणं विसयादीण, वेयणाए य रायरत्तस्स।
अविओगज्झवसाणं, तह संयोगाभिलासो य॥8॥
देविंद चक्कवट्टित्तगाइं, गुणरिद्धि पत्थणमइयं।
अहमं णिदाण चिंतण, मण्णाणागदमच्चंतं॥9॥

अर्थ : अमनोज्ञ शब्द आदि विषय रूप वस्तुओं में द्वेष–बुद्धि से मलिनचित्त वाले के अन्य के धनादि को वियोग करने के लिए चिंतन करना अथवा उनका संयोग अन्य को न हो ऐसा चिंतन प्रथम आर्त्त ध्यान है। तथा शूल वेदना, सिर के रोगादि वेदनाओं के वियोग में एकाग्र ध्यान लगाना, पुनः उसका संयोग न हो इसके लिए चिंता करना तथा उन रोग और पीड़ाओं के प्रतिकार में आकुल चित्तवाले के भी दूसरा आर्त्तध्यान होता है। इष्ट पदार्थों के अथवा विषयों आदि के वियोग होने पर तथा वेदना के प्रति जो राग लगा है उसके लिए उपयोग लगाना कि उसका वियोग न हो तथा इष्ट वस्तु के मिलाने के लिए अभिलाषा रखना भी तीसरा आर्त्तध्यान है। जो चिंतन देवेंद्र, चक्रवर्ती आदि की ऋद्धि, गुण, शक्त्यादि की प्राप्ति के लिए इच्छा से युक्त है, उसको अतिशय अज्ञानानुगत होने से अधम निदान चिंतन रूप चौथा आर्त्तध्यान है।

इसी प्रकार आदिपुराण में क्रम के भेद के साथ उक्त चार आर्त्तध्यान का स्वरूप दिखलाते हुए कहा है–

विप्रयोगे मनोज्ञस्य, तत्संयोगानुतर्षणम्।
अमोज्ञार्थ संयोगे, तद्वियोगानचिन्तनम्॥32॥

निदानं भोगकाङ्क्षोत्थं, संक्लिष्टस्यान्यभोगतः।
स्मृत्यन्वाहरणं चैव, वेदनार्त्तस्य तत्क्षये॥33॥
ऋते विना मनोज्ञार्थाद्, भवमिष्टवियोगजम्।
निदान प्रत्ययं चैव, मप्राप्तेष्टार्थ चिन्तनात्॥34॥
ऋतेऽप्यु पगतेऽनिष्टे, भवमार्तं द्वितीयकम्।
भवेच्चतुर्थमप्येवं, वेदनोपगमोद्–भवम्॥35॥

अर्थ : किसी इष्ट वस्तु के वियोग होने पर उनके संयोग के लिए बार–बार चिंतवन करना सो पहला आर्त्तध्यान है। इसी प्रकार किसी अनिष्ट वस्तु के संयोग होने पर उसके वियोग के लिए निरंतर चिंतवन करना सो दूसरा आर्त्तध्यान है। भोगों की आकांक्षा से जो ध्यान होता वह तीसरा निदान नाम का आर्त्तध्यान कहलाता है। यह ध्यान दूसरे पुरुषों की भोगोपभोग की सामग्री देखने से संक्लिष्ट चित्तवाले जीव को होता है और किसी वेदना से पीड़ित मनुष्य का उस वेदना को नष्ट करने के लिए जो बार–बार चिंतवन होता है वह चौथा आर्त्तध्यान कहलाता है। इष्ट वस्तुओं के बिना होने वाले दुःख के समय जो ध्यान होता है वह इष्ट वियोगज नाम का प्रथम आर्त्तध्यान कहलाता है, इसी प्रकार प्राप्त नहीं हुए इष्ट पदार्थ के चिंतन से जो आर्त्तध्यान होता है वह निदान प्रत्यय नाम का तीसरा आर्त्तध्यान कहलाता है। अनिष्ट वस्तु के संयोग के होने पर जो ध्यान होता है वह अनिष्ट संयोगज नाम का दूसरा आर्त्तध्यान कहलाता है और वेदना उत्पन्न होने पर जो ध्यान होता है वह वेदनोपगमोद्भव नाम का चौथा आर्त्तध्यान कहलाता है।

आगे झाणज्झयण में आर्त्तध्यान के स्वामी, लेश्या और फल का निरूपण करते हुए कहा है–

एयं चदुविहे रागे, दोसे मोहे किदस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसार–वड्ढणं तिरिय गदिमूलं॥10॥
कावोद णील काला, लेस्साओ णादि–संकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगदस्स, कम्म परिणाम जणिदाओ॥14॥
तदविरद–देसविरद–प्पमाद–पर–संजमाणुगं झाणं।
सव्वं पमादमूलं, वज्जेदव्वं जदिजणेणं॥18॥

अर्थ : इस प्रकार उक्त चार प्रकार का आर्त्तध्यान यथासंभव राग, द्वेष और मोह (अज्ञान) करने वाली जीवों के संसार की वृद्धि और तिर्यंच गति का मूल है। आर्त्तध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्मोदय से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएँ होती हैं। विशेषता इतनी ही है कि उसके अतिशय संक्लेशता नहीं होती। चार प्रकार का आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत से युक्त संयमी के होता है तथा वह सम्पूर्ण प्रमादों का मूल है अतः यदि जनों के छोड़ने योग्य है।

इस विषय में आदिपुराण का निरूपण कुछ ऐसा है–

इत्युक्तमार्तमार्तातम्, चिन्त्यं ध्यानं चतुर्विधम्।
प्रमादाधिष्ठितं तत्तु, षड्गुणस्थानसंश्रितम्॥37॥
अप्रशस्ततमं लेश्या, त्रयमाश्रित्य जृम्भितम्।
अन्तर्मुहूर्तकालं तदप्रशस्तावलम्बनम्॥38॥
क्षायोपशमिकोऽस्य स्याद् , भावस्तिर्यग्गतिः फलम्।
तस्माद् दुर्ध्यानमार्ताख्यं, हेयं श्रेयोऽर्थिनामिद्॥39॥

अर्थ : इस प्रकार आर्त्त अर्थात् पीड़ित आत्मा वाले जीवों के द्वारा चिन्तवन करने योग्य चार प्रकार के आर्त्तध्यान का निरूपण किया। यह कषायादि प्रमाद से अधिष्ठित होता है और प्रमत्तसंयत नामक छठवें गुणस्थान तक होता है। यह चारों प्रकार का आर्त्तध्यान अत्यन्त अशुभ कृष्ण, नील और कापोत लेश्या का आश्रय कर उत्पन्न होता है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त है आलम्बन अशुभ है। इस आर्त्तध्यान में क्षायोपशमिक भाव होता है और तिर्यञ्च गति इसका फल है इसलिए यह आर्त्तध्यान, खोटा ध्यान, कल्याण चाहने वाले पुरुषों के द्वारा छोड़ने योग्य है।

आर्त्तध्यान की प्ररूपण के अंत में दिगंबराचार्य कुंद–कुंद स्वामी झाणज्झयण ग्रन्थ में उसके अन्तरंग व बाह्य चिह्न दर्शाते हुए कहते हैं–

तस्साकंदण सोयण, परिदेवण ताडणादि लिंगाणि।
इट्ठाणिट्ठ–विओगा–विओग वेयणा–णिमित्ताणि॥15॥
णिंददि व णिय कदाइं, पसंसदि सविंहओ विभूदीआ।
पत्थेदि तासु रज्जदि, तयज्जण परायणो–होदि॥16॥
सद्दादि विसय गिद्धो, सद्धम्म परम्मुहो पमादपरो।
जिणमदमणवेक्खंतो, वट्टदि अट्टम्मि झाणम्मि॥17॥

अर्थ : अपाक्रन्दन, शोचन (शोक करना), परिदेवन और ताड़न आदि, ये उस आर्त्तध्यानी के परिचायक हेतु हैं जो इष्ट वियोग, अनिष्ट–अवियोग और वेदना के निमित्त से होते हैं। वह अपने द्वारा किए गए निरर्थक या अल्प फल वाले कार्यों की निन्दा करता है तथा आश्चर्य चकित होकर दूसरों की विभूतियों की प्रशंसा करता है व उनकी इच्छा करता है, उनमें अनुराग करता है और उनके उपार्जन में उद्यत होता है। वह आर्त्तध्यानी शब्दादि रूप इन्द्रिय विषयों में लुब्ध होता है, समीचीन धर्म से विमुख होता है वह प्रमाद में रत होता है, इस प्रकार वह जिन–मत की अपेक्षा न करके उक्त आर्त्तध्यान में प्रवृत्त होता है।

दिगंबराचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में कुंद–कुंददेव से कुछ भिन्न आर्त्तध्यान के अंतरंग व बाह्य लिंग (चिह्न) कहे हैं–

मूर्छा कौशील्य कैनाश्च, कौसीद्यान्यतिगृध्नुता।
भयोद्वेगानुशोकाश्च, लिङ्गान्यार्ते स्मृतानि वे॥40॥

बाह्यं च लिङ्गमार्तस्य, गात्रग्ला निर्विवर्णता।
हस्तन्यस्तकपोलत्वं, साश्रुतान्यच्च तादृशम्।।41।।

अर्थ : परिग्रह में अत्यंत आसक्त होना, कुशील रूप प्रवृत्ति करना, कृपणता करना, ब्याज लेकर आजीविका करना, अत्यंत लोभ करना, भय करना, उद्वेग करना और अतिशय शोक करना ये आर्त्तध्यान के चिह्न हैं।। इसी प्रकार शरीर का क्षीण हो जाना, शरीर की कान्ति नष्ट हो जाना, हाथों पर कपोल रखकर पश्चात्ताप करना, आँसू डालना तथा इस प्रकार और भी अनेक कार्य आर्त्तध्यान के बाह्य चिह्न/लिंग कहलाते हैं।

रौद्र ध्यान

झाणज्झयण में कुंद–कुंददेव ने चार प्रकार के रौद्र ध्यानों का स्वरूप बताते हुए कहा है–

सत्तवह वेह बंधण, दहणंकण मारणादि पणिहाणं।
अदि कोहग्गह–घत्थं, णिग्घिण मणसोहमविवागं।।19।।
पिसुणासब्भा–सब्भूय–भूदघादादि वयण पणिहाणं।
मायाविणोदिसंधाण–परस्स पच्छण्ण–पावस्स।।20।।
तह तिव्व कोहलोहाउलस्स भूदोवधादणमणज्जं।
पर दव्वहरण चित्तं, परलोयावाय णिरवेक्खं।।21।।
सद्दादि विसय साहण, धण सारक्खण परायण मणिट्ठं।
सव्वाभिसंकण परोवघाद कलुसाउलं चित्तं।।22।।

अर्थ : अतिशय क्रोधरूप पिशाच के वशीभूत होकर निर्दय अंतःकरण वाले जीव के जो प्राणियों के वध, वेध, बंधन, दहन, अंकन और मरणादि का प्रणिधान, यह हिंसानुबंधी रौद्रध्यान है। इसका विपाक निकृष्ट/अधम है। मायाचारी व परवंचना में तत्पर ऐसे प्रच्छन्न (अदृश्य) पाप युक्त मन वाले के पिशुन, असभ्य, असद्भूत और भूतघात आदि रूप वचनों में प्रवृत्त होने पर भी उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय मृषानुबंधी रौद्रध्यान है। इस प्रकार जो तीव्र क्रोध व लोभ से व्याकुल रहता है उसका चित् दूसरों के चेतन–अचेतन द्रव्य के अपहरण में संलग्न रहता है। यहाँ पर द्रव्य हरण का विचार निंद्य तो है ही, साथ ही वह प्राणी हिंसा का भी कारण है। इस प्रकार रौद्रध्यानी परलोक में होने वाले अपाय की भी अपेक्षा नहीं करता, यह स्तेयानुबंधी रौद्रध्यान है। शब्दादि विषय के साधन भूत धन संरक्षण में परायण सभी पर सशंकित होकर परोपघात हेतु कालुष्य और आकुल चित्त होने वाले के अनिष्टकारी संरक्षणानुबंधी रौद्रध्यान होता है।

आर्षग्रन्थ आदिपुराण जी में रौद्रधयान के वर्णन काल में भगवत्–जिनसेन स्वामी ने झाणज्झयण के आधारपूर्वक रौद्रध्यान का वर्णन करते हुए कहा है–

प्राणिनां रोदनाद् रुद्रः, क्रूरः सत्त्वेषु निर्घृणः।
पुमांस्तत्र भवं रौद्रं, विद्धिध्यानं चतुर्विधम्॥42॥
वधबंधाभिसंधान, मंगच्छेदोपतापने।
दण्डपारुष्यमित्यादि, हिसानन्दः स्मृतो बुधैः॥45॥
अनानृशंस्यं हिंसोपकरणादानतत्कथाः।
निसर्गहिंस्रता चेति, लिंगान्यस्य स्मृतानि वै॥49॥
मृषानन्दो मृषावादै, रतिसन्धानचिन्तम्।
वाक्पारुष्यादि लिगं तद्, द्वितीयं रौद्रमिष्यते॥50॥
स्तेयानन्दः परद्रव्य, हरणे स्मृतियोजनम्।
भवेत संरक्षणानन्दः, स्मृतिरर्थार्जनादिषु॥51॥

अर्थ : जो पुरुष प्राणियों को रुलाता है वह रुद्र, क्रूर अथवा सब जीवों में निर्दय कहलाता है, ऐसे पुरुष में जो ध्यान होता है उसे रौद्रध्यान कहते हैं, यह चार प्रकार का है। मारने और बाँधने आदि की इच्छा रखना, अंग उपांगों को छेदना, सन्ताप देना तथा कठोर दंड देना आदि को विद्वान् लोग हिंसानन्द रौद्रध्यान कहते हैं। क्रूर होना, हिंसा के उपकरण तलवार आदि को धारण करना, हिंसा की कथा करना और स्वभाव से ही हिंसक होना, ये हिंसानन्द रौद्रध्यान के चिह्न हैं। झूठ बोलकर लोगों को धोखा देने का विचार करना सो मृषानन्द नाम का दूसरा रौद्रध्यान है तथा कठोर वचन बोलना आदि इसके बाह्य चिह्न हैं। दूसरे के द्रव्यहरण करने में अपना चित्त लगाना–उसी का चिन्तन करना सो स्तेयानन्द नाम का तीसरा रौद्रध्यान है और धन के उपार्जन करने आदि का चिन्तन करना सो संरक्षणानंद/परिग्रहानंद नाम का चौथा रौद्रध्यान है।

विशेष यह है कि जिनसेन स्वामी ने यहाँ रौद्रध्यान की परिभाषा व चारों ध्यानों के अलग–अलग चिह्न भी कहे हैं तथा संक्षेप में इन ध्यानों का उल्लेख किया है।

रौद्रध्यान के स्वामी

रौद्रध्यान के स्वामी के विषय में दोनों आचार्यों का एक ही अभिमत है। जहाँ कुंद–कुंददेव ने कहा– '**अविरइय–देससंजय जणमण संसेविदं॥23॥**' अर्थात् चार प्रकार का रौद्रध्यान अविरत और देशविरत जनों के मन द्वारा सेवित होता है।

वहीं जिनसेन स्वामी ने भी यही कहा–

'षष्ठात्तु तद्गुण–स्थानात्, प्राक्पञ्चगुणभूमिकम्॥43॥'

अर्थात् यह चार प्रकार का रौद्रध्यान छठे गुणस्थान के पहले–पहले पाँच गुणस्थानों में होता है।

रौद्र ध्यान के फल

रौद्रध्यान के फल में भी दोनों आचार्यों का एक ही अभिमत है। यथा– झाणज्झयण में– **'रुद्दज्झाणंसंसारवद्धणं णरयगदिमूलं॥24॥'** अर्थात् वह रौद्रध्यान संसार का वर्धन करने वाला तथा नरकगति का मूल होता है।

आदिपुराण में कहा है–

'नारकं दुःखमस्याहुः फलं रौद्रस्य दुस्तरम्॥52॥'

अर्थात्– गणधरदेव ने इस रौद्रध्यान का फल अतिशत कठिन नरकगति के दुःख प्राप्त होना बतलाया है। श्लोक क्र. 47–48 में राजा अरविंद व सिक्थ्य मत्स्य का उदाहरण रौद्रध्यान के फल में दिया है।

रौद्रध्यानी की लेश्याएँ

आचार्य कुंद–कुंददेव ने झाणज्झयण में लेश्याओं मात्र का वर्णन भी कहा है। यथा–

कावोद णील काला, लेस्साओ तिव्व–संकलिट्ठाओ।
रुद्दज्झाणेवगदस्त, कम्म परिणामजणिदाओ॥25॥

अर्थात्– तीव्र संक्लिष्ट परिणामों से सहित कृष्ण,नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ कर्म विपाक से उत्पन्न होती हैं, वे रौद्रध्यानी के होती हैं।।

आदिपुराण में कहा–

प्रकृष्टतरदुर्लेश्या त्रयोपोद्बलवृंहितम्।
अन्तर्मुहूर्तकालोत्थं, पूर्ववद्भाव इष्यते॥44॥

अर्थात्– यह रौद्रध्यान अत्यंत अशुभ कृष्ण आदि तीन खोटी लेश्याओं के बल से उत्पन्न होता है, अन्तर्मुहूर्त काल तक रहता है और पहले आर्त्तध्यान के समान इसका क्षायोपशमिक भाव होता है।।

रौद्रध्यान के चिह्न

झाणज्झयण की अपेक्षा आदिपुराण में रौद्रध्यान के चिह्न कुछ भिन्न ही कहे हैं। झाणज्झयण में जहाँ उत्सन्नादि चार दोष तथा निर्दयता आदि चिह्न कहे हैं; वहीं आदिपुराण में भौंह टेढ़ी करना, पसीना आना इत्यादि 5 लिंग प्ररूपित किए हैं। यथा– झाणज्झयण में–

लिंगाणि तस्स उस्सण्ण, बहुल णाणाविहामरण दोसा।
तेसिंचिय हिंसादिसु, बाहिर कारणोवउत्तस्स॥26॥
परवसणं अहिणंददि, णिरवेक्खो णिद्दयो णिरणुतावो।
हरिसिज्जदि कदपावो, रुद्दज्झाणोवगत चित्तो॥27॥

अर्थात्– उत्सन्न दोष, बहुल दोष, नानाविध दोष और आमरण दोष ये चार दोष रौद्रध्यान के चिह्न हैं। जो कि निश्चय से उन जीवों के हिंसादिक के बाह्य कारणों में उपयोग के द्वारा होते हैं। रौद्रध्यानी का चित्त परविपदाओं को चाहता है, निर्दय होता है, अपने कुकृत्यों की परवाह नहीं करता तथा उसे उनका अनुताप नहीं होता उल्टा उन पाप क्रियाओं में वह हर्षित होता है।

आदिपुराण में–

बाह्यतु लिंगमस्याहु, र्भ्रूभङ्गं मुखविक्रियाम्।
प्रस्वेदमङ्गकंपञ्च, नेत्रयोश्चातिताम्रताम्॥52॥

अर्थात्– भौंह टेढ़ी होना, मुख का विकृत होना, पसीना आना, शरीर काँपना और नेत्रों का अतिशय लाल होना इत्यादि रौद्रध्यान के 5 बाह्य चिह्न हैं।

धर्म–ध्यान के योग्य द्वादश द्वार–

कुंद–कुंद स्वामी ने झाणज्झयण में धर्मध्यान की प्ररूपणा पूर्व में द्वादश द्वारों की चर्चा की है। ये द्वार भावना, काल, देश, आसन, आलम्बन ध्येय, ध्याता आदि रूप हैं। इसी पद्धति का प्रयोग श्रीमद् जिनसेन स्वामी ने भी किया है। उन्होंने इसका अनुसरण करते हुए लगभग 110 श्लोकों में द्वादश द्वारों का वर्णन किया है। वहीं कुंद–कुंद देव ने लगभग 40–गाथाओं में इन्हें कहा है किन्तु दोनों के क्रम में अंतर है। इनका प्रपंच यहाँ करते हैं।

1. ध्यान के योग्य भावनाएँ :

ध्यान भावनाओं की प्ररूपण में सर्वप्रथम उद्देश्य रूप में दोनों आचार्यों का अभिप्राय एक ही रहा है। वे कहते हैं कि जो भावनाएँ मुनि को मोह से पृथक् करती हैं वे ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य कहलाती हैं।[1]

किन्तु इन भावनाओं के स्वरूप की व्याख्या में विषय संक्षेप और विस्तार का अंतर है। जहाँ झाणज्झयण में 4 गाथाओं में (31–34) इसका सुव्यवस्थित एवं विस्तार से व्याख्या किया है, वहीं आदिपुराण में भी 4 श्लोकों (96–99) में इसका व्याख्यान किया है। इसे यहाँ समझते हैं–

ज्ञान भावना झाणज्झयण में–

णाणे णिच्चब्भासो, कुणदि मणोवारणं विसुद्धिं च।
णाणगुण मुणिय सारो, तो झायदि णिच्चलमदीओ॥31॥

अर्थात्– जिसने ज्ञान का निरंतर अभ्यास किया है वह पुरुष ही मन का निग्रह, विशुद्धि को प्राप्त होता है, जिसने ज्ञान गुण से वस्तु को जान लिया है वही निश्चल मति होकर ध्यान करता है।

1. झाणज्झयण गा.क्र. 30, आदिपुराण. श्लो–95॥

आदिपुराण में–

वाचनापृच्छने सानुप्रेक्षणं परिवर्तनम्।
सद्धर्म देशनं चेति, ज्ञातव्या ज्ञानभावनाः।।96।।

अर्थात्– शास्त्रों को पढ़ना, पृच्छना करना, पदार्थ के स्वरूप का चिंतन करना, श्लोकादि कण्ठस्थ करना तथा समीचीन धर्म का उपदेश देना ये पाँच ज्ञान की भावनाएँ जानना चाहिए।

दर्शन भावना–झाणज्झयण में–

संकादि सल्लरहिदो, पसमत्थेयादि गुणगणोवइयो।
होदि असम्मूढ मणो, दंसण सुद्धीए झाणम्मि।।32।।

अर्थात्– जो शंकादि शल्यों से रहित है तथा प्रशम, स्थिरता आदि गुणों के समूह से सहित है वह दर्शन शुद्धि के कारण ध्यान में असम्मूढ़ मनवाला होता है।

आदिपुराण में–

संवेग प्रशमस्थैर्य, मसंमूढत्वमस्मयः।
अस्ति क्यसनु कम्पेति ज्ञेयाः सम्यक्त्वभावनाः।।97।।

अर्थात्– संसार से भय होना, शांत परिणाम होना, धीरता रखना, अर्थात्– संसार से भय होना, शांत परिणाम होना, धीरता रखना, मूढ़ताओं का त्याग करना, गर्व नहीं करना, श्रद्धा रखना और दया करना ये सात सम्यग्दर्शन की भावनाएँ जानना चाहिए।।

चारित्र भावना–झाणज्झयण में–

णवकम्माणादाणं, पोराण वि णिज्जरा सुहादाणं।
चारित्त भावणाए, झाणमयत्तेण य समेदि।।33।।

अर्थात्– चारित्र भावना के बल से बिना किसी प्रयत्न के द्वारा ध्यान प्राप्त होता है, नवीन कर्मों का ग्रहण नहीं होता, पुराने कर्मों की निर्जरा होती है तथा शुभास्त्रव होता है।

आदिपुराण में–

ईर्यादि विषया यत्ना, मनोवाक्कायगुप्तयः।
परिषहसहिष्णुत्व, मिति चारित्र भावनाः।।98।।

अर्थात्– चलने आदि के विषय में यत्न रखना, पाँच समितियों का पालन करना, त्रयुगुप्ति का पालन करना तथा परिषहों को सहन करना, ये चारित्र भावनाएँ जानना चाहिए।

वैराग्य भावना–झाणज्झयण में–

सुविदिद जगस्सहावो, णिस्संगो णिब्भयो णिरासो य।
वेरग्ग भाविदमणो, झाणम्मि सुणिच्चलो होदि।।34।।

अर्थात्– जिसने जगत् के स्वभाव को भले प्रकार से परखा है, जो निःसंग व निर्भर है तथा आशाओं

से रहित है, उसका मन वैराग्य भावना से ओत–प्रोत है, वही ध्यान में निश्चल होता है।

आदिपुराण में–

विषयेष्वनभिष्वंगाः, कायतत्त्वानुचिन्तनम्।
जगत्स्वभाव चिन्त्येति, वैराग्यस्थैर्यभावनाः॥99॥

अर्थात्– विषयों में आसक्त न होना, शरीर के स्वरूप का बार–बार चिन्तन करना और जगत् के स्वभाव का विचार करना ये वैराग्य को स्थिर रखने वाली भावनाएँ हैं।

2. ध्यान में योग्य देश/परिकर्म–

कुंद–कुंद स्वामी ने झाणज्झयण में तीन गाथाओं में क्रम से इसका व्याख्यान किया है। सर्वप्रथम हीन एकाग्रता/प्रारम्भिक ध्यानी के लिए तदुपरांत एकाग्र मन/प्रौढ़ ध्यानी के लिए। यथा–

णिच्चंचेव जुवदि पसु, णपुंसग कुसील वज्जिदं जदिणो।
ठाणं वियणं भणिदं, विसेसओ झाण कालम्मि॥35॥
थिर कय जोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुणिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो॥36॥
जो जत्थ समाहाणं, होज्ज मणो वयण काय जोगाणं।
भूदोवघाद रहिदो, सो देसो झायमाणस्स॥37॥

अर्थात्– यतियों के लिए नित्य ही युवती, पशु, नपुंसक, कुशीलादि से रहित विजन स्थान कहा गया है। फिर भी विशेष करके ध्यान के काल में उपर्युक्त जनों से हीन होना चाहिए। किन्तु जिन्होंने त्रय योगों को स्थिर कर लिया है और जिसका मन ध्यान में सुनिश्चल है, ऐसे मुनियों के लिए जनाकीर्ण ग्राम में व शून्य अरण्य में कोई अन्तर विशेष नहीं है क्योंकि वे दोनों में अलिप्त हैं। अथवा योगों का जहाँ समाधान हो, जो प्राणियों के उपघात से रहित हो, वह परिकर्म ध्यानी के लिए अनुकूल माना गया है।

इस प्रकार आदिपुराण में भी परिकर्म की व्याख्या काल में झाणज्झयण का आधार लिया है। कहीं–कहीं शब्दशः और कहीं–कहीं अर्थशः इसका प्रयोग किया है। किंतु कुछ परिकर्म जिनसेन स्वामी ने अधिक बताए हैं तथा उनकी प्ररूपणा क्रम भी भिन्न हैं। प्रथम तो वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिंतवन का परिकर्म तदुपरांत ध्यान का परिकर्म 10 श्लोकों (57–64, 76–77) में कहा है। कुछ श्लोकों को यहाँ दर्शाते हैं–

शून्यालये श्मशाने वा, जरदुद्यानकेऽपिवा।
सरित्पुलिनगिर्यग्र, गह्वरे द्रुमकोटरे॥57॥
शुचावन्यतमे देशे, चित्तहारिण्यपातके।
नात्युष्ण शिशिरे नापि, प्रबृद्धतरमारुते॥58॥
विमुक्तवर्ष संबाधे, सूक्ष्म जन्त्वनुपद्रुते।
जलसंपातनिर्मुक्ते, मन्दमन्दनभस्वति॥59॥

देशादिनियमोऽप्येवं, प्रायो वृत्तिव्यपाश्रयः।
कृतात्मनां तु सर्वोऽपि, देशादिर्ध्यान सिद्धये॥76॥
स्त्री पशुक्लीब संसक्त, रहितं विजनं मुनेः।
सर्वदैवोचित्तं स्थानं, ध्यानकाले विशेषतः॥77॥

अर्थात्– अध्यात्म के स्वरूप को जाननेवाला मुनि, सूने घर में,श्मशान में, जीर्णवन में, नदी के किनारे, पर्वत के शिखर पर, गुफा में, वृक्ष की कोटर में अथवा और भी किसी ऐसे पवित्र तथा मनोहर प्रदेश में जहाँ आतप न हो, अतिशय गर्मी और सर्दी न हो, तेज वायु न चलती हो, वर्षा न हो रही हो, सूक्ष्म जीवों का उपद्रव न हो, जल का प्रताप न हो और मन्द–मन्द वायु बह रही हो, वहाँ द्रव्यों के यथार्थस्वरूप का चिन्तवन करे।

आगे जिनसेन स्वामी ने कहा– 'इसी प्रकार देशादि का जो नियम कहा गया है वह भी प्रायोजवृत्ति को लिए हुए हैं अर्थात् हीन शक्ति के धारक ध्यान करने वालों के लिए ही देश आदि का नियम है,पूर्ण शक्ति के धारण करने वालों के लिए तो सभी देश और सभी काल आदि ध्यान के साधन हैं। जो स्थान, स्त्री, पशु और नपुंसक जीवों के संसर्ग से रहित हो या एकांत हो वही स्थान मुनियों के सदा निवास करने के योग्य होता है और ध्यान के समय तो विशेष कर ऐसा ही स्थान योग्य समझा जाता है।

3. ध्यान के योग्य काल :

इस विषय में दोनों आचार्यों का एक ही अभिमत है। जिनसेन स्वामी ने कुंद–कुंद देव का अनुसरण करते हुए आदिपुराण में झाणज्झयण की गाथा क्र. 38 की ही छाया (शब्दशः व अर्थशः) श्लोक क्र. 82 में की है।

4. ध्यान के योग्य आसन :

आसन के विषय में भी आदिपुराण में झाणज्झयण का ही विषय है। आदिपुराण में श्लोक–75, झाणज्झयण की गाथा–39 की ही छाया है। अर्थ भी समान है– "देह की अवस्था ध्यान में जिस समय बाधक नहीं हो उस अवस्था में अर्थात् खड़े होकर अथवा बैठकर कैसे भी ध्यान करना चाहिए।"

किंतु आसन के विषय में दिगंबराचार्य जिनसेन स्वामी ने आठ श्लोक (67–74) अधिक लिखे हैं। उसमें से एक–दो श्लोक यहाँ कहते हैं–

पल्यङ्क इव दिध्यासोः, कायोत्सर्गोऽपि सम्मतः।
समप्रयुक्त सर्वांगो, द्वात्रिंशद् दोषवर्जितः॥69॥
बाहुल्यापेक्षया तस्मादवस्था द्वयसंगरः।
सक्तानां तूपसर्गाद्यैस्, तद्वैचित्र्यं न दुष्यति॥74॥

अर्थात्– ध्यान करने की इच्छा करने वाले मुनि को पर्यंक आसन के समान कायोत्सर्ग आसन करने की भी आज्ञा है। कायोत्सर्ग के समय समस्त अंगों को सम रखना चाहिए और बत्तीस दोषों का बचाव

करना चाहिए।

आगे (74 श्लोक) जिनसेन स्वामी ने कहा कि– 'इसलिए कायोत्सर्ग और पर्यंक ऐसे दो आसनों का निरूपण असमर्थ जीवों की अधिकता से किया गया है। जो उपसर्ग आदि को सहने में अतिशय समर्थ हैं ऐसे मुनियों के लिए वीरासन, गोदोहासन, वज्रासन, धनुरासन इत्यादि अनेक प्रकार के आसनों के लगाने में दोष नहीं है।

5. ध्यान के योग्य आलंबन :

धर्मध्यान के आलंबन रूपी द्वार की चर्चा मात्र झाणज्झयण में है। कुंद–कुंद देव ने जिन्हें आलंबन कहा उन्हें जिनसेन स्वामी ने ज्ञान को उत्पन्न करने की भावना कहा है (श्लोक–96)।

आलंबणाणि वायण, पुच्छण–परियट्टणाणुपेहाओ।
समाइयादियाइं, सद्धम्मावस्सयाइं च॥42॥

अर्थात्– वाचना, पृच्छना, परिवर्तना, अनुप्रेक्षा और सामायिक, प्रतिक्रमण आदि छह आवश्यकों का सद्धर्म रूप से करना, ये सब ध्यान के आलंबन हैं।

आगे कुंद–कुंद देव ने उदाहरणपूर्वक भी समझाया है। जैसे दृढ़ आलंबन के द्वारा विषयभूमि पर आरोहण होता है वैसे ही आत्मा आदि द्रव्यों के आलंबन से ध्याता धर्मध्यान में आरोहण करता है। (गाथा–43)।

6. ध्यान का क्रम :

झाणज्झयण में ध्यान का क्रम गाथा–44 में किया है। आदिपुराण में इसका कोई वर्णन नहीं मिलता।

7. ध्यान का ध्येय :

ध्यान का ध्येय अर्थात् विषय क्रम प्राप्त द्वार है। झाणज्झयण में 18 गाथाओं में (45–62) इसकी प्ररूपणा है। वहीं आदिपुराण में 46 श्लोकों में (107–130, 133–154) ऐसी प्ररूपणा है।

किंतु आदिपुराण में ध्येय का कुछ विषय अधिक है। कुंद–कुंद देव ने जहाँ धर्म के चार भेदों को ध्येय के अंतर्गत कहा है वहीं जिनसेन स्वामी धर्मध्यान के साथ–साथ अन्य ध्येयों की भी चर्चा की है। सर्वप्रथम यहाँ उन्हें संक्षेप में कहते हैं–

'अध्यात्मतत्त्व, रत्नत्रय, सातसत्त्व, नौ पदार्थ ध्येय हैं। नयों के द्वारा छह द्रव्यों का विस्तार ध्येय है। सप्त भंगी न्याय से देदीप्यमान शास्त्र ध्येय है। पदार्थों के जानने का उपाय–शब्द, अर्थ और ज्ञान ध्येय हैं। जो साकार होकर भी निराकार हैं, निराकार होकर भी साकार हैं, कृत्कृत्य हैं, कर्ममल से रहित हैं, अविनाशी विशुद्धि को प्राप्त हैं; ऐसे सिद्धपरमेष्ठी ध्येय हैं, अथवा जो केवल ज्ञानी हैं, जो स्नातक अवस्था को प्राप्त हुए हैं, जिन्होंने अविद्याओं को जीत लिया है, ऐसे बुद्ध, जिन, विश्वदर्शी, अरहंत प्रभु ध्येय हैं।' (107–130)।

धर्मध्यान :

झाणज्झयण में आज्ञा के स्वरूप के निर्देशन पूर्वक प्रथम आज्ञाविचय धर्मध्यान का वर्णन किया है। आदिपुराण में भी इसी का अनुसरण हुआ है। आदिपुराण में धर्मध्यान का स्वरूप भी कहा है तथा जिनाज्ञा के अपर नाम का उल्लेख भी श्लोक क्र. 133, 136 में किया है। विशेष करके आज्ञा के लिए प्रयोग किए विशेषण शब्दशः आदिपुराण में लिए हैं। यथा– अनादिनिधन, भूतहित, अमित, अजित, महानुभव आदि। झाणज्झयण में प्रथम ध्यान की व्याख्या 45–49 गाथाओं में की है तथा आदिपुराण में 135–140 (6) श्लोकों में इसका वर्णन है।

द्वितीय धर्मध्यान का विषय दोनों ग्रंथों में समान है। अंतर मात्र इतना ही है कि आदिपुराण में बारह अनुप्रेक्षा तथा दशधर्म आदि का चिंतन भी अपाय–विचय में शामिल है। झाणज्झयण में गाथा क्र. 50 में तथा आदिपुराण में श्लोक क्र. 141–142 में इसका वर्णन है।

तृतीय विपाक विचय धर्मध्यान का विषय व कुछ शब्द दोनों ग्रंथों में समान है। यथा–झाणज्झयण में कहा–

पयडिट्ठिदिप्पदेसाणुभाग–भिण्णं सुहासुह विहत्तं।
जोगाणुभाग जणिदं, कम्मविवागं विचिंतेज्जो॥51॥

अर्थात्– जो प्रकृति, स्थिति, प्रदेश और अनुभाग, इन चार भागों में विभक्त हैं, जो शुभ और अशुभ भागों में विभक्त है तथा जो योग व अनुभाग कषाय से उत्पन्न हुआ है ऐसे कर्मविपाक का चिंतन करना तृतीय धर्मध्यान है।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी देखिए–

शुभाशुभविभक्तानां, कर्मणां परिपाकतः।
भवावर्तस्य वैचित्र्यमभिसंदधतो मुनेः॥43॥

अर्थात्– शुभ और अशुभ भेदों में विभक्त हुए कर्मों के उदय से संसाररूपी आवर्त की विचित्रता का चिंतन करने वाले मुनि के जो ध्यान है उसे गणधर देव विपाक–विचय धर्मध्यान मानते हैं।

ध्यातव्य के चतुर्थ भेद अर्थात् संस्थान की प्ररूपणा करते हुए झाणज्झयण में द्रव्यों के लक्षण व संस्थानादि तथा उनकी उत्पादादि पर्यायों के साथ पंचास्तिकायस्वरूप लोक, तद्गत, पृथ्वी, वातवलय, द्वीपसमुद्रादिकों को ध्येय बतलाया है। साथ ही जीव उपयोग स्वरूपी है व उसके कर्मोदयजनित संसार समुद्र के भयानक स्वरूप को दिखलाते हुए उससे पार होने के उपायविषयक विचार करने की भी प्रेरणा गाथा क्र. 52–62 तक में की गई है।

इसी प्रकार आदिपुराण में भी संस्थान की प्ररूपणा करते हुए लोक के आकार जीवादि तत्त्वों, द्वीप समुद्र वातवलयादि के ध्येय कहा है। साथ ही वहाँ यह भी कहा है कि जीव भेदों व उनके गुणों का विचार करते हुए उनका जो अपने ही पूर्वकृत कर्म के प्रभाव से संसार समुद्र में परिभ्रमण हो रहा है उसका तथा उससे पार होने के उपाय का भी चिंतन करना चाहिए। विस्तार से श्लोक 148–154 तक देखें जिसमें

दो गाथाएँ झाणज्झयण की छाया रूप में हैं।

8. ध्यान के ध्याता :

धर्मध्यान के ध्याता के विषय में दोनों ग्रंथों में कुछ मतभेद हैं। झाणज्झयण कर्ता आचार्य कुंद–कुंद देव 7वें गुणस्थान से 12वें गुणस्थान तक धर्मध्यान स्वीकारते हैं किंतु जिनसेन स्वामी का मत है कि वह चौथे, पाँचवें व छठवें गुणस्थान में भी होता है। यथा– झाणज्झयण में कहा–

सव्व पमाद विरहिदा, मुणओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो णाणधणा, धम्मज्झाणस्स णिद्दिट्ठा॥63॥

अर्थात्– जो मुनि सर्वप्रमाद से रहित है, उपशांत व क्षीण मोही हैं वे ज्ञानधनवाले श्रमण धर्मध्यान के ध्याता हैं।

अब आदिपुराण में प्ररूपित ध्याता को देखिए–

तदप्रमत्ततालम्बं, स्थितिमान्तर्मुहूर्तिकीम्।
दधानमप्रमत्तेषु, परां कोटिमधिष्ठितम्॥155॥
सद्दृष्टिषु यथाम्नायं, शेषेष्वपि कृतस्थिति।
प्रकृष्टशुद्धिमल्लेश्या, त्रयोपोद्बलवृंहितम्॥156॥

अर्थात्– वह धर्मध्यान अप्रमत्त अवस्था का आलंबन कर अंतर्मुहूर्त तक स्थित रहता है और अप्रमत्त जीवों के ही अतिशय उत्कृष्टता से होता है। इसके सिवाय अतिशयशुद्धि को धारण करने वाला और पीत, पद्य तथा शुक्ल लेश्याओं के बल से वृद्धि को प्राप्त हुआ यह धर्मध्यान चौथे गुणस्थान में तथा शेष पाँचवें, छठवें गुणस्थान में भी होता है।

इसके अन्यत्र आदिपुराण में ध्याता के स्वरूप के लिए दो श्लोक और भी प्राप्त होते हैं। उन्हें यहाँ दिखलाते हैं।

स चतुर्दशपूर्वज्ञो, दशपूर्वधरोऽपिवा।
नवपूर्वधरो वा स्याद्, ध्याता सम्पूर्णलक्षणः॥101॥
श्रुतेन विकलेनापि, स्याद्ध्याता मुनिसत्तमः।
प्रबुद्धधीरधः श्रेण्या, धर्मध्यानस्थ सुश्रुतः॥102॥

अर्थात्– यदि ध्यान करने वाला मुनि चौदह पूर्व, दसपूर्व अथवा नौ पूर्व का जाननेवाला हो तो वह ध्याता सम्पूर्ण लक्षणों से युक्त कहलाता है। इसके सिवाय धर्म ध्यान धारण करनेवाला उत्कृष्ट मुनि भी उत्तम ध्याता कहलाता है।

9. ध्यान की अनुप्रेक्षा :

अनुप्रेक्षा के विषय में दोनों ग्रंथ में एक ही प्ररूपणा है। आदिपुराण में झाणज्झयण का अनुसरण करते हुए कहा है कि– 'ध्यान के उपरम होने पर बुद्धिमान मुनि उत्तम–उत्तम अनुप्रेक्षाओं के चिंतन में लीन रहे।

इस प्रसंग में निम्न श्लोक व गाथा द्रष्टव्य है–

झाणोवरमे वि मुणी, णिच्चमणिच्चादि चिंतणपरओ।
होदि सुभाविद चित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं॥65/झाण॥
ध्यानेऽप्युपरतं धीमानभीक्ष्णं भावयेन्मुनिः।
सानुप्रेक्षाः शुभोदर्का, भवाभावाय भावनाः॥164/आ.पु.॥

10. ध्यान की लेश्याएँ :

झाणज्झयण में स्वतंत्ररूप से गाथा क्र. 66 में लेश्या का व्याख्यान है तथा आदिपुराण में स्वामी के साथ श्लोक क्र.–156 में लेश्या का व्याख्यान है किंतु भाव समान है अर्थात् पीत पद्म और शुक्ल ये तीन धर्मध्यान के योग्य लेश्याएँ हैं।

11. ध्यान के चिह्न :

झाणज्झयण में धर्मध्यान के अंतरंग व बहिरंग दो प्रकार के चिह्नों का वर्णन है। इसी प्रकार आदिपुराण में भी दो प्रकार के चिह्नों का व्याख्यान है, किंतु वहाँ कुछ लिंग अधिक बतलाए हैं। दोनों ग्रंथों के लिंग यहाँ देखते हैं–

आगम उवएसाणा, णिसग्गओ जं जिणप्पणीदाणं।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं॥67॥
जिणसाहु–गुणक्कित्तण, पसंसणा विणयदाण–संपण्णो।
सुद सील संजमरदो, धम्मज्झाणी मुणेदव्वो॥68॥

अर्थात्– आगम, उपदेश और जिन आज्ञा के अनुसार निसर्ग रूप से जो जिन भगवान् के द्वारा प्रज्ञप्त पदार्थों का श्रद्धान होना, ये धर्मध्यान के अंतरंग परिचायक हेतु हैं। जो जिन, साधु और उनके गुणों का कीर्तन, प्रशंसा, विनय करता हो तथा दान सम्पन्नता, श्रुत, शील व संयम में रत हो उसे धर्मध्यानी जानना चाहिए। अर्थात् ये धर्मध्यान के बाह्य लिंग हैं।।

इसी प्रकार आदिपुराण में देखिए–

प्रसन्नचित्तता धर्म, संवेगः शुभयोगता।
सुश्रुतत्वं समाधान, माज्ञाधिगमजा रुचिः॥159॥
भवन्त्येतानि लिंगानि, धर्मस्यान्तर्गतानि वै।
सानुप्रेक्षाश्च पूर्वोक्ता, विविधाः शुभभावनाः॥160॥
बाह्यं चं लिंगमंगानां, संनिवेशः पुरोदितः।
प्रसन्नवक्त्रता सौम्या, दृष्टिश्चेत्यादि लक्ष्यताम्॥161॥

अर्थात्– प्रसन्नचित्त रहना, धर्म से प्रेम करना, शुभ योग रखना, सु–शास्त्रों का अभ्यास करना, चित्त स्थिर रखना और आज्ञा तथा स्वकीय ज्ञान से एक प्रकार की विशेष श्रद्धा उत्पन्न होना, ये धर्मध्यान

के बाह्य चिह्न हैं तथा अनुप्रेक्षाएँ व अनेक प्रकार की शुभ भावनाएँ उसके अंतरंग लिंग हैं। पूर्वोक्त पर्यंकादि आसनों को धारण करना, मुख की प्रसन्नता होना और दृष्टि का सौम्य होना इत्यादि भी बाह्य चिह्न हैं।

12. ध्यान का फल :

झाणज्झयण में गाथा क्र. 93 में तथा आदिपुराण में श्लोक क्र. 162, 163 में इसका वर्णन है। जहाँ कुंद-कुंद देव ने शुभास्रव, संवर, निर्जरा व अमरादि के सुख को ध्यान का फल कहा है वहीं जिनसेन स्वामी ने निर्जरा, इंद्रादि के सुख को धर्मध्यान का फल कहा है, किंतु विशेषता इतनी है कि जिनसेन स्वामी ने स्वर्गादि की प्राप्ति साक्षात् तथा परंपरा में निर्वाण की प्राप्ति धर्मध्यान का फल कहा है।

इस प्रकार द्वादश द्वारों की प्ररूपणा में समानता है।

शुक्लध्यान :

शुक्लधयान का निरूपण करते हुए आदिपुराण में आम्नाय के अनुसार उसके शुक्ल और परमशुक्ल ये दो भेद निर्दिष्ट किए गए हैं। उनमें छद्मस्थों के शुक्ल व केवलियों के परमशुक्ल ध्यान कहा गया है। इन भेदों का संकेत वहाँ झाणज्झयण से उपलब्ध हुआ है, पर वहाँ परमशुक्ल से समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाती नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान अभीष्ट रहा है। यह व्याख्या झाणज्झयण में गाथा क्र. 89 में तथा आदिपुराण में श्लोक क्र. 167 में है।

आगे दोनों ग्रन्थों में जो शुक्लध्यान के पृथक्त्व वितर्क सविचार आदि चार भेदों का निरूपण किया गया है वह बहुत कुछ समान है। झाणज्झयण में 6 गाथाओं (77-82) में इसका व्याख्यान है तथा आदिपुराण में भी 6 श्लोकों (170, 171, 184, 194, 195, 196) में इसका वर्णन है।

शुक्लध्यान के स्वामी तथा फल का निरूपण भी दोनों में समान है। अंतर इतना है कि आदिपुराण में विस्तार से है किंतु आधार झाणज्झयण का ही है।

अंत में कुंद-कुंद स्वामी की उदाहरणात्मक शैली/पद्धति का प्रयोग जिनसेन स्वामी ने भी किया है। गाथा-102 को छाया रूप में तथा गाथा 71-72 को अर्थशः आदिपुराण में श्लोक 213-214 में समावित किया है। ये गाथाएँ पूर्व में दृष्टव्य हैं।

इस प्रकार दोनों ग्रंथों की वर्णनशैली तथा शब्द, अर्थ और भाव की समानता को देखते हुए इसमें संदेह नहीं रहता कि आदिपुराण के अंतर्गत वह ध्यान का वर्णन झाणज्झयण से अत्याधिक प्रभावित है। यहाँ इस शंका के लिए कोई स्थान नहीं है कि झाणज्झयण कर्ता आचार्य कुंद-कुंद देव प्रथम-द्वितीय शती के हैं और आदिपुराण कर्ता आचार्य जिनसेन स्वामी 9वीं शती के हैं। इससे यही समझना चाहिए कि आदिपुराण के रचयिता दिगम्बराचार्य जिनसेन स्वामी के समक्ष झाणज्झयण अवश्य रहा है और उन्होंने उसका भरपूर उपयोग उसमें किए गए ध्यान के वर्णन में 21वें पर्व में किया है।

झाणज्झयण और ध्यानोपदेशकोष

आचार्य श्री गुरुदास (10वीं–11वीं शती) कृत ध्यानोपदेशकोष अपरनाम योगसार संग्रह जैनागम का एक ऐसा लघुकाय ग्रंथ है जिसमें ध्यान इच्छुक साधकों के लिए अभिनव प्रमेय प्राप्त होता है। इनके गुरु श्री नंदि स्वामी थे तथा आचार्य श्री गुरुदास के द्वारा विरचित 'प्रायश्चित्त चूलिका' ग्रंथ एक अपूर्व रचना है। 158 श्लोकों का ग्रंथ यह ध्यानोपदेशकोष कुंद–कुंद देव के झाणज्झयण से प्रभावित लगता है। आगे दोनों ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन को कहते हैं।

मंगलाचरण करते हुए झाणज्झयण में कहा कि जिन्होंने शुक्लध्यान रूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को दग्ध कर दिया है ऐसे वीर तीर्थंकर को नमस्कार करके मैं ग्रंथ की प्रतिज्ञा करता हूँ। इसी प्रकार ध्यानोपदेशकोष में कहा कि तीव्र ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को दग्ध करने वाले विश्वज्ञ विश्वदृष्टा तीर्थंकर भगवान् मंगल स्वरूप होवे। यथा–

वीरं सुक्कज्झाणग्गि–दड्ढकम्मिंधणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥झा./1॥
योगीन्द्रो रुन्द्रयोगाग्नि, –दग्धकर्मेंधनोऽङ्गिनाम्।
विश्वज्ञो विश्वदृश्वाऽस्तु, मंगलं मंगलार्थिनाम्॥ध्या. को./3॥

द्वितीय गाथा में

झाणज्झयण में ध्यान के लक्षण का निरूपण करते हुए कहा कि जो स्थिर चित्त है वह ध्यान है और जो अस्थिर चित्त है उसे भावना, चिंता अथवा अनुप्रेक्षा जानो। इसी प्रकार ध्यानोपदेशकोष में कहा कि चिंता का निरोध ध्यान है। भावना, अनुप्रेक्षा और चिंता उसके बाद की अवस्थाएँ हैं। यथा–

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥झा./2॥
एकचिन्तानिरोधो यस्, तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षाऽथ चिंता वा, तज्ज्ञैरभ्युगम्यते॥ध्या.को./34॥

आगे झाणज्झयण में कहा कि एक वस्तु में अंतर्मुहूर्त पर्यंत चित्त का अवस्थापन छद्मस्थों का ध्यान है तथा वह ध्यान जिनेंद्रदेव के योग निरोध रूप है। यह ध्यान छद्मस्थों के अंतर्मुहूर्त के लिए होता है तथा जिनेंद्र देव के वह ध्यान योग निरोध रूप होता है। यथा–

अंतोमुहुत्त मेत्तं, चित्तावत्थाणमेगवत्थुम्मि।
छदुमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणं तु॥झा./3॥
छद्मस्थानामिदं ध्यानं, भवेदंतर्मुहूर्ततः।
योग रोधो जिनेंद्राणां, कर्मोघध्यांतभास्वताम्॥ध्या.को./35॥

आर्त्त–रौद्र ध्यान का वर्णन दोनों ग्रंथों में समान है किंतु विशेष इतना है कि ध्यानोपदेशकोष में आर्त्तध्यान के क्रम के कुछ भेद हैं। (ध्यानो. श्लोक–39–40, 42)/झाणज्झयण में आर्त्त–रौद्रध्यान के स्वामी व फल का पृथक–पृथक गाथाओं में वर्णन है किंतु ध्यानापदेशकोष में एक ही श्लोक में (41) इनका वर्णन है। दोनों ग्रंथों में फल व स्वामी में कोई विरोध नहीं है अर्थात् समानता है। यथा– आर्त्तध्यान का फल तिर्यंच गति तथा स्वामी छठवें गुणस्थान तक जानना चाहिए। रौद्रध्यान का फल नरकगति तथा स्वामी पंचम गुणस्थान तक कहे गए हैं।

तत्पश्चात् जिस प्रकार झाणज्झयण में द्वादश द्वारों में भावना द्वार का वर्णन है, ध्यानोपदेशकोष में भी सर्वप्रथम भावना का वर्णन हैं किंतु भवनागत विषय में भिन्नत्व है। झाणज्झयण में जहाँ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तथा वैराग्य इन भावनाओं की चर्चा है वहीं ध्यानोपदेशकोष में क्षमा, निंदा, गर्हा इत्यादि भावनाओं की व्याख्या है। (श्लो. 43–48)।

धर्मध्यान के ध्याता के विषय में दोनों ग्रंथों में असमानता है। झाणज्झयण में जहाँ 7वें गुणस्थान से 12वें तक धर्मध्यान स्वीकारा है वहीं ध्यानोपदेशकोष में 6वें गुणस्थान में धर्मध्यान स्वीकारा है। (श्लोक. 52)।

झाणज्झयण में चारों ध्यानों के लक्षण का वर्णन प्रसंगानुसार 10 गाथाओं में किया है किंतु ध्यानोपदेशकोष में मात्र 1 श्लोक में यह विषय कहा है किंतु अभिप्राय समान ही है। यथा– आर्त्तध्यान का लक्षण दुःख, रौद्रध्यान का बैर, धर्म और शुक्लध्यान का लक्षण शांति है (श्लो. 38)।

इसके आगे ध्यानोपदेशकोष में, जो धर्मध्यान के भेद, परिकर्म, ध्येय, आलंबन का व्याख्यान है वह कुछ–कुछ आदिपुराण से प्रभावित लगता है।

धर्मध्यान के प्ररूपण के पश्चात् तथा शुक्लध्यान के पूर्व में जैसे झाणज्झयण में दृष्टांतों की श्रृंखला है वैसे ही ध्यानोपदेशकोष में भी दृष्टांतों की श्रृंखला प्राप्त होती है।

झाणज्झयण की तरह ध्यानोपदेशकोष में धर्मध्यान का फल, शुक्लध्यान का फल, शुक्लध्यान के भेद व ध्याता तथा योगाश्रित, शुक्लध्यानों के स्वामियों का निर्देश मिलता है। जैसे झाणज्झयण में अंत में उदाहरण पूर्वक ध्यान का महत्त्व समझाया है उसी प्रकार ध्यानोपदेशकोष में भी ध्यान का महत्त्व समझाया है।

अतएव ध्यानोपदेशकोष भी झाणज्झयण पाहुड से बहुत अंगों में प्रभावित है ऐसा प्रतीत होता है।

झाणज्झयण और ज्ञानार्णव

ज्ञानार्णव कर्त्ता आचार्य शुभचंद्रस्वामी (11वीं शती) हैं। ज्ञानार्णव जिसका अरपनाम योगार्णव भी है, यह एक ध्यान विषयक अभूतपूर्वग्रंथ, इंद्रवंज्रा, शालिनी, उपजाति, उपेंद्रवज्रा, पृथ्वी, मंदाक्रांता, मालिनी, वंशस्थ, वसंततिलका, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी और स्नग्धरा जैसे वार्णिक और मात्रिक दोनों छंदों में रचा गया है।

ग्रंथ की प्रौढ़ भाषा, कविता और पदलालित्य, शीघ्रबोधकता, हृदयग्राहिता इत्यादि को देखते हुए ग्रंथकार की बहुप्रतिभाशालिता का पता सहज में लग जाता है। सिद्धांत के मर्मज्ञ होने के साथ दिगंबराचार्य शुभचंद्रस्वामी बहुप्रतिभासंपन्न उत्कृष्ट कवि भी रहे हैं। ग्रंथ में प्रमुखता से ध्यान की प्ररूपणा तो की ही गई है, पर साथ में उस ध्यान की सिद्धि में सहायक, रत्नत्रय, अनित्यादि अनुप्रेक्षाएँ, अहिंसादि महाव्रतों और प्राणायामादि अन्य भी अनेक उपयोगी विषय चर्चित हुए हैं। अतः ज्ञानार्णव को ''ध्यानशास्त्र'' भी कहा जा सकता है।

कुंद-कुंद स्वामी प्रणीत प्रस्तुत श्रुत झाणज्झयण पाहुड में ध्यान व उससे संबद्ध जिन विषयों का वर्णन किया गया है उन सबका कथन ज्ञानार्णव में भी प्रायः यथा प्रसंग मिलता है। पर दोनों ग्रंथों की विवेचन पद्धति अत्यंत भिन्न रही है। झाणज्झयण में पूर्णतया क्रमबद्ध, व्यवस्थित तथा उद्देश्य, लक्षण व परीक्षा रूप से ध्यान का विषय विवेचन है, किंतु ध्यानशास्त्र ज्ञानार्णव में विषयविवेचन का क्रम प्रायः व्यवस्थितरूप में नहीं रहा है।

इन दोनों ग्रंथ में कहीं-कहीं शब्दशः व अर्थशः समानता दिखाई देती है। इसे दर्शाते हैं।

आर्त्तध्यान के वर्णन में झाणज्झयण में उनके भेदों का क्रम अनिष्ट संयोग, अप्रशस्त वेदना, इष्ट वियोग तथा निदान का चिंतन कहा है। (6-9) वहीं ज्ञानार्णव में क्रम तो कुछ विपरीत है किंतु विषयवस्तु प्रायः समान मिलती है। ज्ञानार्णव में जो तृतीय है झाणज्झयण में वह द्वितीय है और जो झाणज्झयण में जो तृतीय है ज्ञानार्णव में वो द्वितीय है। (श्लोक 25-36)।

परंतु रौद्रध्यान के वर्णन का क्रम व विषय दोनों ग्रंथों में समान है। प्रथम भेद में हिंसानंद, द्वितीय भेद में मृषानंद, तृतीय में चौर्यानंद तथा चतुर्थ में संरक्षणानंद के विषय का चिंतन कहा है। देखिए गाथा क्र. 19-22 तथा श्लोक क्र. 3-35।

इसी प्रकार धर्मध्यान का विषय विवेचन तथा क्रम भी समानतः प्राप्त होता है। यहाँ दोनों में आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान विचय के चिंतन का क्रम है।

झाणज्झयण में परमगति की प्राप्ति के लिए चरम ध्यान का वर्णन अंत में है। झाणज्झयण का अनुसरण करते हुए 42वें अर्थात् सबसे अंतिम सर्ग में ज्ञानार्णव में शुक्ल ध्यान का वर्णन है। क्रम व विषय विवेचन भी सामान्य है। विशेष वर्णन हेतु झाणज्झयण की 77-82 गाथाएँ व ज्ञानार्णव का 42वाँ सर्ग देखें। यहाँ प्रपंच के भय से इन्हें नहीं कह रहा हूँ। इसके सिवाय ध्यान के योग्य काल, देश अथवा ध्यान के स्वामी, लेश्या, फल इत्यादि विषम का विवेचन भी क्रम प्राप्त प्रसंग में शुभचंद्र स्वामी ने ज्ञानार्णव में झाणज्झयण के आलंबन से ही किया है।

अब यहाँ झाणज्झयण की कुछ गाथाओं को दर्शाते हैं जिसमें शब्द व अर्थ की समानता ज्ञानार्णव के श्लोकों में मिलती है।

जं थिरमज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता।।झा/2।।

एकाग्रचित्तानिरोधो, यस्तद् ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपरगम्यते।।ज्ञाना/25/16।।
णिच्चं चेव जुवदि पसु, णपुंसग कुसील वज्जिदं जदिणो
ठाणं वियणं भणिदं, विसेसदो झाणकालम्मि।।झा/35।।
यत्र रागादयो दोषा, अजस्त्रं यान्ति लाघवम्।
तत्रैव वसतिः साध्वी, ध्यानकाले विशेषतः।।ज्ञाना/28/8।।
थिरकयजोगाणं पुण,मुणीण झाणे सुणिच्चलमणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।झा/36।।
विजने जनसंकीर्णे, सुस्थिते, दुःस्थितेऽपि वा।
यदि धत्ते स्थिरं चित्तं, न तदास्ति निषधनम्।।ज्ञा/28/22।।
सव्वासु वट्टमाणा, मुणिणो जं देस–काल–चेट्ठासु।
वरकेवलादिलाहं, पत्ता बहुसो खविद पावा।।झा/40।।
तो देसकाल चेट्ठा, णियमो झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाणं, जह होदि तह पयइदव्वं।।झा/41।।
वज्रकाया महासत्त्वा, निष्कम्पाः सुस्थिरासनाः।
सर्वावस्थास्वलं ध्यात्वा, गताः प्राग्योगिन शिवम्।।ज्ञा/28/13।।
संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः।
सर्वावस्थासु सर्वत्र, सर्वदा ध्यातुमर्हति।।ज्ञा/28/21।।

इन सभी समानताओं के बाद भी ज्ञानार्णव पर झाणज्झयण का कुछ प्रभाव रहा हो, यह सम्भावना नजर नहीं आती। कारण कि आचार्य जिनसेन के द्वारा आदिपुराण के 21वें पर्व में जो ध्यान का वर्णन किया गया है उसका प्रभाव ज्ञानार्णव पर अत्याधिक रहा है। अतः यही संभव है कि ज्ञानार्णव कर्ता के झाणज्झयण को आधार न बनाकर आदिपुराण के आश्रय से ही ध्यानविषयक प्ररूपण की है। क्योंकि ग्रंथकार आचार्य शुभचंद्र स्वामी ने स्वयं ही ग्रंथ के प्रारंभ में आचार्य जिनसेन स्वामी के वचनों के महत्त्व को प्रगट करते हुए उनका स्मरण किया है। यथा–

जयंति जिनसेनस्य, वाचस्त्रैविद्यवंदिताः।
योगिभिर्यत् समासाद्य, स्खलितं नात्मनिश्चये।।ज्ञा/1/16।।

तथा पूर्व में उल्लिखित ज्ञानार्णव के श्लोक 8, 13, 16, 21 और 22 क्रमशः आदिपुराण में 21 पर्व के 77, 83, 9 तथा 73 श्लोकों से प्रभावित है। अतएव ज्ञानार्णव आदिपुराण के 21वें पर्व से प्रभावित लगता है तथा आदिपुराण का 21वाँ झाणज्झयण से प्रभावित है यह पूर्व में कह आए हैं।

इस प्रकार झाणज्झयण पाहुड जैन परंपरा का ध्यान विषयक सबसे प्राचीन, स्वतंत्र तथा सुव्यवस्थित

ग्रंथ है। इसमें ध्यान का लक्षण, ध्यान की परिभाषा, ध्यान के विधान (भेद) ध्यान के प्रभेद व लक्षण के साथ–साथ ध्यान की ज्ञानादि भावनाएँ, काल, परिकर्म (देश), आसन विशेष, आलम्बन, क्रम, ध्यातव्य (ध्येय), ध्याता, लेश्या, अनुप्रेक्षाएँ, परिचायक हेतु (लिंग) तथा फल रूपी द्वादश द्वारों का प्ररूपण सुदृष्टांतों के माध्यम से किया गया है।

इस झाणज्झयण पाहुड की विवेचन पद्धति और विषय की गंभीरता को परवर्ती कई दिगंबराचार्यों ने कहीं शब्दशः कहीं अर्थशः स्वीकारा है। इसमें यतिवृषभाचार्य कृत तिलोयपण्णत्ती, शिवार्यकृत मूलाराधना, उमास्वामी कृत तत्त्वार्थसूत्र, कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेन स्वामी कृत धवला पु. 13, जिनसेन स्वामी कृत आदिपुराण का ध्यान प्रकरण, गुरुदासाचार्य कृत ध्यानोपदेशकोष, शुभचंद्राचार्य कृत ज्ञानार्णव आदि ग्रंथ दृष्टव्य है। श्वेताम्बर साहित्य भी झाणज्झयण पाहुड के प्रभाव से दूर नहीं रह पाया है। इस विषय में ठाणंग, योगशास्त्र, भगवतीसूत्र, औपपातिका सूत्र इत्यादि ग्रंथ उदाहरणार्थ हमारे समक्ष उपलब्ध हैं।

इस ग्रंथ की भाषा, ग्रंथकार, ग्रंथ के नाम तथा विभिन्न ग्रंथों के तुलनात्मक अध्ययन से यह सुस्पष्ट है कि यह दिगम्बराचार्य कलिकाल सर्वज्ञ कुंद–कुंद देव की ही कृति है। यह ग्रंथ पूर्व में क्षुल्लक 105 सिद्धसागर द्वारा प्रकाश में आया था किंतु मात्र अनुवाद रूप में यह कृति प्रकाशित हुई थी। प्रकृत में यह ग्रंथ अन्वेषण, आगम और तर्कपूर्णाग्रह तथा पाठांतरों के साथ प्रस्तुत है। यह मेरा झाणज्झयण पाहुड के लिए प्रथम प्रयास है और आशा है कि विद्वत्गण इसे गतिमान् करेंगे।

।।इत्यलं।।

।।वर्धतां सर्वोदय शासनम्।।
।।वर्धतां नमोस्तुशासनम्।।

महावीर जयंती,
ग्रीष्मकालीन वाचना,
टीकमगढ़
13/04/2014

–श्रुतसंवेगी श्रमण आदित्यसागर मुनि
(संघस्थ श्रमणाचार्य विशुद्धसागरजी)

॥ ग्रन्थ प्रारंभ ॥

'मंगलाचरण व प्रतिज्ञा'

वीरं सुक्कज्झाणग्गि– दड्ढ– कम्मिंधणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥1॥

अन्वयार्थ– (सुक्कज्झाणग्गि) जिन्होंने शुक्लध्यान रूपी अनल के द्वारा **(दड्ढ– कम्मिंधणं)** कर्म रूपी ईंधन को दग्ध कर दिया है, ऐसे **(सरण्णं)** शरणभूत **(जोईसरं वीरं)** योगियों के ईश्वर वीर प्रभु को **(पणमिऊणं)** नमस्कार करके **(झाणज्झयणं)** ध्यानाध्ययन नामक इस प्राभृत को **(पवक्खामि)** मैं (कुंद–कुंद स्वामी) कहता हूँ।

अर्थ– जिन्होंने शुक्लध्यान से कर्मरूपी ईंधन को दग्ध कर दिया है, जला दिया है, ऐसे शरणभूत योगियों के ईश्वर वीर वर्धमान, प्रभु को नमस्कार करके ध्यानाध्ययन नामक इस प्राभृत ग्रंथ को मैं कुंद–कुंद स्वामी कहता हूँ।।1।।

'ध्यान का लक्षण'

जं थिर–मज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं[1] चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥2॥

अन्वयार्थ– (जं थिरं) जो स्थिर **(अज्झवसाणं)** अध्ययवसाय है अर्थात् एकाग्र चिंता निरोधरूप ज्ञान की पर्याय है, **(तं झाणं)** उसको ध्यान जानो। **(वा)** और **(जं चलंतयं)** जो अस्थिर **(चित्त)** चित्त है, **(तं)** वह **(भावणा)** ध्यान भावना **(वा)** अथवा **(अणुपेहा)** अनुप्रेक्षा **(अहव)** अथवा **(चिंता)** चिंता **(होदि)** होती है।

अर्थ– जो स्थिर अध्यवसाय रूप है अर्थात् एकाग्र चिंता निरोध रूप ज्ञान की पर्याय है वह ध्यान है। और जो अस्थिर चित्त है उसको भावना, चिंता अथवा अनुप्रेक्षा जानो।।2।।

'ध्यान का काल व स्वामी'

अंतोमुहुत्त–मेत्तं, चित्तावत्थाण–मग–वत्थुम्मि[2]।
छदुमत्थाणं झाणं[3], जोगणिरोहो जिणाणं॥3॥

अन्वयार्थ– (एगवत्थुम्मि) किसी एक वस्तु में **(अंतोमुहुत्त–मेत्तं)** अन्तर्मुहूर्त मात्र पर्यंत **(चित्त–अवत्थाणं)** जो चित्त का अवस्थान होता है **(छदुमत्थाणं झाणं)** वह छद्मस्थों का मुख्य प्रशस्त ध्यान है **(तु)** किंतु **(जिणाणं)** जिनेंद्र देवों के **(जोग–णिरोहो)** यथासंभव योगों का जो निरोध है उसको ध्यान माना गया है।

1. चलत्तयं इति पाठ ध.पु. 13, पृ.–64।
2. 'वत्थुम्हि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।
3. 'ज्झाणे' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।

अर्थ– उत्तम संहननवालों के सातवें गुणस्थान आदि में एक अन्तर्मुहूर्त तक जो चित्त का अवस्थान होता है वह छद्मस्थों का मुख्य प्रशस्त ध्यान है। किंतु जो जिनेंद्र है उनके योगों का यथासंभव निरोध स्थूल या सूक्ष्म रूप से होता है वह ध्यान माना गया है; क्योंकि उनके संवर–निर्जरा विशेष होती है।।3।।

'ध्यान के पश्चात् ध्यानांतर या ध्यान संतति'

अंतोमुहुत्त–परदो, चिंता झाणंतरं वि होज्जा हि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु–संकमे झाण–संताणं[4]॥4॥

अन्वयार्थ– (अंतोमुहुत्त परदो) अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् **(चिंता)** जो एकाग्र चिंता है **(झाणंतरं वि)** वह ध्यानांतर या ध्यान संतति को भी **(होज्जा)** प्राप्त होती है **(हि)** तथा **(झाण संताणं)** जो ध्यान–संतति है **(सुचिर)** वह सुचिर अर्थात् बहुत दीर्घकाल तक **(पि)** भी **(बहुवत्थु संकमे)** बहुत सी वस्तुओं में संक्रमण रूप से **(होज्ज)** प्राप्त होती है।

अर्थ– अंतर्मुहूर्त के पश्चात् जो एकाग्र–चिंता है वह ध्यानांतर या ध्यानसंतति को भी प्राप्त होती है तथा जो ध्यान–संतति (संतान) है वह बहुत दीर्घकाल तक बहुत सी वस्तुओं में संक्रमण रूप से उपयोग के बदलने रूप से पाई जाती है।।4।।

'ध्यान के भेद और फल'

अट्टं रुद्दं धम्मं, सुक्क झाणाइं[5] तत्थ अंताइं
णिव्वाण–साहणाइं, भव–कारण–मट्टरुद्दाइं॥5॥

अन्वयार्थ– (अट्टं रुद्दं धम्मं) आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म्य ध्यान **(सुक्क झाणाइं)** शुक्ल ध्यान, ये चार प्रकार के ध्यान हैं। **(तत्थ)** उनमें से **(अंताइं)** अंत के अर्थात् धर्म्य और शुक्लध्यान **(णिव्वाण साहणाइं)** निर्वाण सुख के साधन हैं **(अट्टरुद्दाइं)** किंतु आर्त्त और रौद्र ध्यान **(भवकारणं)** संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

अर्थ– आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल ध्यान में; ये चार प्रकार के ध्यान हैं। उनमें से धर्म्य और शुक्ल ध्यान तो निर्वाण सुख के साधन रूप हैं किंतु आर्त्त और रौद्र ध्यान संसार परिभ्रमण के कारण है।।5।।

● अब चार आर्त्त ध्यान के स्वरूप कहते हैं।

---

4. 'ज्झाणसंताणो'– इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।

5. 'सुक्क झाणाइं' इति पाठः।

'अनिष्ट वियोग चिंतन आर्त्तध्यान'

अमणुण्णाणं सद्दादि, विसय–वत्थूण दोस–मइल्लस्स।
धणिगं[6] वियोग–चिंतण–मसंपओगाणुसरणं च॥6॥

अन्वयार्थ– (अमणुण्णाणं सद्दादि) अमनोज्ञ शब्द आदिक **(विसय वत्थूण)** विषय रूप वस्तुओं में **(दोस मइल्लस्स)** द्वेष बुद्धि से मलिनचित्त वाले के **(धणिगं वियोग चिंतण)** अन्य के धनादिक को वियोग करने के लिए चिंतन करना **(च)** अथवा **(असंपओगाणुसरणं)** उनका संयोग फिर न हो ऐसा चिंतन करना; अनिष्ट वियोगज चिंतन नाम का प्रथम आर्त्त ध्यान है।

अर्थ– अमनोज्ञ शब्दादिक विषयरूप वस्तुओं में द्वेष बुद्धि से मलिनचित्तवाले के पर के धनादिक को अनिष्ट मान उसके वियोग करने के लिए चिंतन करना अथवा उनका संयोग फिर से न हो ऐसा चिंतन करना; अनिष्ट वियोगज चिंतन नामक प्रथम आर्त्त ध्यान है।।6।।

'अप्रशस्त वेदना चिंतन आर्त्त ध्यान'

तह सूल सीसरोगादि, वेयणाए विओगे पणिधाणं।
तदसंपओग चिंता, तप्पडियारा–उलमणस्स॥7॥

अन्वयार्थ– (सूल) शूल वेदना **(सीसरोगादि)** सिर के रोग आदिक **(वेयगाए)** वेदनाओं के **(विओगे)** वियोग में **(पणिधाणं तदसंपओग)** एकाग्र ध्यान लगाना, पुनः उसका संयोग न हो इसके लिए **(चिंता)** चिंता करना वेदना चिंतन नामक आर्त्त ध्यान है **(तह)** तथा **(तप्पडियार–आउलमणस्स)** तथा उन रोग और पीड़ाओं के प्रतिकार में आकुल–चित्त वाले के भी दूसरा अप्रशस्त वेदना चिंतन नामक कुध्यान है।

अर्थ– तथा शूल वेदना, सिर के रोग आदिक वेदनाओं के वियोग में एकाग्र ध्यान लगाना, पुनः उसका संयोग न हो, ऐसी चिंता करना, वेदना चिंतन नामक आर्त्त ध्यान है तथा उन रोग और पीड़ाओं के प्रतिकार में आकुल चित्त वाले के भी दूसरा अप्रशस्त वेदन चिंतन नामक कुध्यान होता है।।7।।

'इष्ट वियोग चिंतन आर्त्तध्यान'

इट्ठाणं विसयादीण, वेयणाए य रायरत्तस्स।
अविओगज्झवसाणं, तह संजोगाभिलासो य॥8॥

6. धणियं– इति पाठः।

अन्वयार्थ– (रायरत्तस्स) राग से युक्त जीव का **(इट्ठाणं)** इष्ट पदार्थों के अथवा **(विसयादीण)** विषयों आदि के वियोग होने पर **(वेयणाए य)** तथा वेदना विषय में **(अविओग–अज्झवसाण)** उपयोग लगाना कि उसका वियोग न हो **(तह)** तथा **(संजोग–अभिलासो)** इष्ट वस्तु के मिलाने के लिए अभिलाषा रखना **(य)** भी तीसरा अप्रशस्त आर्त्त ध्यान है।

अर्थ– रागासक्त प्राणी का इष्ट वस्तुओं के या विषयों आदि के वियोग होने पर वेदना के विषय में उपयोग लगाए रखना तथा इष्ट वस्तु के मिलाने के लिए अभिलाषा रखना भी तीसरा अप्रशस्त इष्ट वियोग नाम का तीसरा आर्त्त ध्यान है।।8।।

'निदान चिंतन आर्त्तध्यान'

देविंद–चक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धि–पत्थणमइयं।
अहमं णिदाण–चिंतण–मण्णाणाणुगदमच्चंतं।।9।।

अन्वयार्थ– (देविंद–चक्कवट्टित्तणाइं) जो चिंतन देवेंद्र, चक्रवर्तित्व आदि की **(गुण–रिद्धि–पत्थण–मइयं)** ऋद्धि, गुणों की प्रार्थना से सहित है **(अण्णाण–अणुगदमच्चंतं)** अतिशय अज्ञानानुगत होने से **(णिदाण चिंतणं)** उसको निदान चिंतन रूप–चौथा अप्रशस्त आर्त्त ध्यान कहा है। **(अहमं)** इसका चिंतन करना अधम है।

अर्थ– देवेंद्र, चक्रवर्तित्व आदि की ऋद्धि, गुण, शक्ति आदि की प्राप्ति के लिए इच्छा करना अर्थात् प्रार्थना से युक्त होना निदान–चिंतन रूप चौथा अप्रशस्त आर्त्त–ध्यान है। अतिशय अज्ञान से उत्पन्न होने के कारण यह अधम है।।9।।

'आर्त्तध्यान का कारण और परिणाम'

एयं चदुविहे रागे, दोसे मोहे किदस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसार–वद्धणं तिरिय–गदिमूलं।।10।।

अन्वयार्थ– (एयं) इस तरह **(चदुविहे)** चार प्रकार का **(अट्टज्झाणं)** आर्त्तध्यान **(रागे दोसे मोहे)** यथा संभव राग, द्वेष और मोह **(किदस्स)** करने वाले **(जीवस्स)** जीव के **(संसार–वद्धणं)** संसार वर्धन अर्थात् संसार की वृद्धि का कारण **(तिरिय–गदि–मूलं)** और तिर्यंच गति का मूल है।

अर्थ– इस तरह उक्त चार प्रकार का आर्त्तध्यान यथा संभव राग, द्वेष और मोह (अज्ञान) करने वाले जीवों के संसार की वृद्धि अर्थात् संसार वर्धन का हेतु और तिर्यंच गति का मूल है।।10।।

'मुनि के आर्त्तध्यान की संभावना एवं निराकरण'

मज्झत्थस्स दु मुणिणो, सकम्म–परिणाम जणिदं[7] मेयंति।
वत्थुस्सहाव–चिंतण–परस्स सम्मं सहंतस्स॥11॥
कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियारमप्प सावज्जं।
तव संजम–पडियारं, च सेवओ धम्म–मणिदाणं॥12॥

अन्वयार्थ– **(मज्झत्थस्स मुणिणो)** मुनि राग और द्वेष के मध्य में स्थित होता है **(दु)** इसलिए **(सकम्म–परिणाम–जणिदं मेयंति)** रोगादि की वेदना को स्वकर्म जनित मानते हैं। **(वस्तुस्सहावचिंतण–परस्स)** इस प्रकार वस्तुस्वभाव के चिंतन में तत्पर होते हुए **(सम्मं सहंतस्स)** उसे समतापूर्वक भलीभाँति सहता है। **(व)** तथा **(पसत्थ–आलंबणस्स)** जो साधु प्रशस्त आलंबन का आश्रय लेकर उक्त वेदना का **(अप्पसावज्जं–पडियारं)** अल्प सावद्य युक्त प्रतिकार **(कुणओ)** करता है **(च)** तथा **(तव संजम पहियारं सेवओ)** तप–संयम रूप प्रतिकार का सेवन करता है **(धम्मं अणिदाण)** उसके निदान रहित धर्म ध्यान ही रहता है, न कि आर्त्तध्यान।

अर्थ– मुनि राग और द्वेष के मध्य में स्थित होते है, वह वस्तु को इष्ट–अनिष्ट न मानकर उससे राग–द्वेष नहीं करते इसलिए रोगादि की वेदना के होने पर उसे स्वकृत कर्म विपाक से उत्पन्न मानते हैं और वस्तुस्वभाव के चिंतन में तत्पर होते हुए उसे समतापूर्वक भलीभाँति सहते है तथा जो साधु प्रशस्त (ज्ञानादि) आलंबन का आश्रय लेकर उक्त वेदना का अल्प सावद्ययुक्त प्रतिकार करते है तथा निदान से रहित होते हुए तप–संयमरूप प्रतिकार का सेवन करते है, उसके निदान से रहित धर्मध्यान ही रहता है, न कि आर्त्तध्यान।।11/12।।

'आर्त्तध्यान संसार का बीज'

रागो दोसो मोहो, जेण य संसार हेदवो भणिदा।
अट्टम्मि य ते तिण्णि वि, तो तं संसार–तरु–बीयं॥13॥

अन्वयार्थ– **(जेण)** जिस कारण से **(रागो–दोसो–मोहो य)** राग, द्वेष और मोह को (आसक्ति/मिथ्यात्व को) **(संसार हेदवो भणिदा)** संसार का कारण कहा गया है **(ते तिण्णि वि)** वे तीनों ही **(अट्टम्मि य)** आर्त्तध्यान में भी संभव हैं **(तो त)** इसलिए उनको **(संसारतरुबीय)** संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है।

अर्थ– जिस कारण से राग, द्वेष और मोह (आसक्ति/मिथ्यात्व) को संसार का कारण कहा गया है, वे तीनों ही आर्त्तध्यान में भी संभव है इसलिए उनको संसार रूपी वृक्ष का बीज कहा गया है।।13।।

7. 'जणियं'– इति पाठः।

'आर्त्तध्यानी की लेश्याएँ'

कावोद–णील–काला–लेस्साओ णादि संकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगदस्स, कम्म–परिणाम–जणिदाओ॥14॥

अन्वयार्थ– (कम्म परिणाम जणिदाओ) कर्म परिणामों से उत्पन्न होने वाली **(अट्टज्झाण–उवगदस्स)** आर्त्तध्यान से युक्त जीव के **(कावोद णील काला)** कापोत, नील और कृष्ण **(लेस्साओ)** ये तीन लेश्याएँ **(ण–अदि–संकिट्ठिओ)** अति संक्लिष्ट नहीं होती है।

अर्थ– आर्त्तध्यान को प्राप्त हुए जीव के कर्म के उदय से उत्पन्न हुई कापोत, नील और कृष्ण ये तीन अशुभ लेश्याएँ अति संक्लिष्ट परिणामवाली नहीं होती हैं। अर्थात् रौद्र ध्यानी की अपेक्षा आर्त्तध्यानी के वे उतनी प्रभावक नहीं होती।।14।।

'आर्त्तध्यानी के चिह्न'

तस्साकंदण–सोयण–परिदेवण–ताडणादि लिंगाणि।
इट्ठाणिट्ठ–विओगा–विओग–वेयणा णिमित्ताणि॥15॥

अन्वयार्थ– (तस्स) उपर्युक्त आर्त्तध्यानी के **(आकंदण सोयण)** क्रन्दन अर्थात् रोने, शोक करने **(परिदेवण)** परिदेवन रूप गुण स्मरण पूर्वक रूदन करने, **(ताडण–आदि)** पीटने अर्थात् हाथ पैर पटकने के साथ छाती पीटने आदि **(लिंगाणि)** चिह्नों से **(इट्ठ–अणिट्ठ–विओग–अविओग)** इष्ट के वियोग और अनिष्ट के अवियोग **(वेयणा)** और वेदना के **(णिमित्ताणि)** कारणों को जाना जाता है।

अर्थ– उपर्युक्त आर्त्तध्यानी के रोने, शोक करने, परिवेदन रूप गुण स्मरण पूर्वक रुदन करने, हाथ–पैर पटकने के साथ छाती पीटने आदि के चिह्नों से, इष्ट के वियोग को, अनिष्ट के अवियोग को और वेदना के कारणों को जाना जा सकता है।।15।।

'आर्त्तध्यानी के अन्य चिह्न'

णिंददि य णिय कदाइं, पसंसदि सविंहओ विभूदीआ।
पत्थेदि तासु रज्जदि, तयज्जण परायणो होदि॥16॥
सद्दादि विसय–गिद्धो, सद्धम्म–परम्मुहो पमादपरो।
जिणमद–मणवेक्खंतो, वट्टदि अट्टम्मि झाणम्मि॥17॥

अन्वयार्थ– (णिय कदाइं) जो निज कृतियों की **(णिंददि)** निंदा करता है **(सविहंओ)** जो आश्चर्य सहित पर की **(विभूदीआ)** विभूतियों की **(पसंसदि)** प्रशंसा करता है, **(य)** तथा **(तासु)** उनमें **(रज्जदि)** जो आसक्त होता है **(पत्थेदि)** उनकी प्रार्थना/अभिलाषा करता है, **(तयज्जण परायणो)**

तथा जो उनके उपार्जन में परायण **(होदि)** होता है, **(सद्दादि)** जो शब्द आदिक **(विसय गिद्धो)** विषयों में गृद्ध है, **(सद्धम्म– परम्मुहो)** जो सम्यक धर्म से विमुख है, **(पमादपरो)** जो प्रमादी है **(जिणमदं– अणवेक्खंतो)** वह जिनेंद्र भगवान के मत की अपेक्षा न करते हुए **(अट्टम्मि झाणम्मि)** आर्त्तध्यान में **(वट्टदि)** वर्तन करता है/होता है।

अर्थ– जो निज कृतियों की, कार्यों की निंदा करता है अथवा जो कुकृतियों को निंदा करते हुए भी छोड़ना नहीं चाहता है, जो विस्मित होते हुए साश्चर्य पर की विभूतियों की प्रशंसा करता है तथा उनसे जो प्रार्थना करने रूप से भीख माँगता है और उनमें जो आसक्त होता है तथा जो उनके उपार्जनों में परायण हो या जो शब्दादिक इंद्रिय विषयों में गृद्ध हो या सच्चे (समीचीन) धर्म से विरूद्ध हो, प्रमादी हो, वह जिनेंद्र भगवान् के मत की/मान्यता को अपेक्षा नहीं करते हुए, आर्त्तध्यान में रहता है, वर्तन करता है।।16/17।।

'आर्त्तध्यान के स्वामी'

तदविरद–देसविरद–प्पमाद पर–संजमाणुगं झाणं।
सव्वं पमादमूलं, वज्जेदव्वं जदि–जणेणं[8]।।18।।

अन्वयार्थ– (तद् झाणं) उपर्युक्त आर्त्तध्यान **(अविरद–देसविरद–प्पमाद)** अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत से **(पर–संजम–अणुगं)** युक्त संयमवाले का अनुगामी होता है **(सव्वं पमाद–मूलं)** तथा वह सर्व प्रमादों का मूल है **(जदि–जणेणं)** अतः यति/श्रवण जनों के द्वारा **(वज्जेदव्वं)** वह छोड़ देने के योग्य है, त्यागने योग्य है।

अर्थ– अप्रशस्त चिंतन रूप चार प्रकार का आर्त्तध्यान अविरत, देशविरत और प्रमत्तसंयत से युक्त संयमवाले का अनुगामी होता है तथा वह संपूर्ण प्रमादों का मूल है। अतः यतिजनों को, श्रमणों को उसे छोड़ देना चाहिए।।18।।

विशेष : 'अविरता असंयतसम्यग्दृष्ट्यन्ताः असंयतगुणस्थान तक के जीवन अविरत कहलाते हैं। स.सि.– 9/35/888।।

● अब चार प्रकार के रौद्र ध्यान का वर्णन करते हैं–

'हिंसानंद रौद्रध्यान'

सत्तवह–वेह–बंधण–दहणंकण–मारणादि पणिहाणं।
अदि–कोहग्गह–घत्थं, णिग्घिण–मणसोहम[9] विवागं।।19।।

अन्वयार्थ– (णिग्घिण–मणसो) निर्घृण/निर्दयी मन से युक्त होकर **(सत्तवह)** प्राणियों का हनन करना **(वेह–बंधण)** उनको छेदना, बांधना, **(दहण–अंकण)** जलाना, जलती वस्तु से उन पर अंकन

८. 'जणेण'– इति पाठः। ९. 'मणसोऽहम्म इति पाठः।

करना, **(मारण–आदि)** उनको पीटने आदि का भाव रखना **(पणिहाणं)** उनमें मन लगाना **(अदि कोहग्ग घत्थं)** अत्यंत क्रोध रूपी ग्रह से ग्रहीत होना, क्रूर होना इत्यादि **(अहम विवागं)** अधम विपाक रूप से प्रथम रौद्र ध्यान है।

अर्थ– निर्घृण/कृपा रहित मन से युक्त होकर प्राणियों का वध करना, उनको छेदना, बांधना, जलाना, जलती हुई वस्तु के द्वारा उन पर अंकन करना, उनको पीटने आदि के भाव रखना, उनमें मन लगाना, अत्यंत क्रोध रूपी ग्रह/पिशाच से ग्रहीत होना तथा क्रूर होना, यह हिंसानंद प्रथम रौद्र ध्यान है। इसका विपाक अधम है अर्थात् निकृष्ट है।।19।।

'मृषानन्द रौद्रध्यान'

पिसुणासब्भा–सब्भूद–भूदघादादि–वयण–पणिहाणं।
मायाविणादिसंधाण–परस्स पच्छण्ण–पावस्स॥20॥

अन्वयार्थ– (पिसुण) चुगली **(असब्भ–असब्भूद)** असभ्य वचन, असद्भुत/अप्रशस्त वचन **(भूदघाद–आदि–वयण)** प्राणियों के घातक वचन आदि के **(पणिहाणं)** बोलने में मन लगाना आदि से **(परस्स)** युक्त के **(अदि संधाण)** अत्यंत ठग तथा **(पच्छण्ण–पावस्स)** छुपकर पाप करने वाले **(मायाविणो)** मायाविन् के विशेष करके यह दूसरा मृषानन्द रौद्र ध्यान होता है।

अर्थ– मायाचारी, परवंचना तथा दूसरों के ठगने में तत्पर ऐसे अदृश्य (प्रच्छन्न) पाप युक्त मन वाले जीव के चुगली, असभ्य वचन, असद्भूत–अर्थात् अप्रशस्त वचन, और प्राणियों के घातक वचन आदि में प्रवृत्त होने पर जो उनके प्रति दृढ़ अध्यवसाय/चिंतन होता है, यह मृषानंद नामक द्वितीय रौद्रध्यान है।।20।।

'स्तेयानंद/चौर्यानंद रौद्र ध्यान'

तह तिव्व कोह लोहा–उलस्स भूदोवघादण–मणज्जं।
परदव्व–हरण[7]चित्तं, परलोयावाय–णिरवेक्खं॥21॥

अन्वयार्थ– (तह) वैसे ही **(तिव्व कोह लोह)** तीव्र/प्रचण्ड क्रोध और लोभ से **(आउलस्स)** आकुल जीव के **(भूदोवघादणं)** प्राणियों का विनाशन, **(अणज्जं)** अनार्य आचरण तथा **(परदव्व हरण)** पर के धन के हरने में **(परलोय–अवाय)** और परलोक में होने वाले नरकादि दुःख की/अनर्थ की **(णिरवेक्खं)** परवाह न करके **(चित्तं)** जो परिणाम होता है वह स्तेयानंद रौद्रध्यान है।

अर्थ– वैसे ही तीव्र/प्रचुर क्रोध और लोभ से आकुल जीव के प्राणियों का विनाशन/हनन, अनार्य आचरण तथा बिना कमाए पर के धन के हनन करने में और परलोक में होने वाले नरकादि दुःख की अनिष्ट/अनर्थ की परवाह न करके जो परिणाम होता है वह तीसरा अप्रशस्त चौर्यानंद अर्थात् स्तेयानंद रौद्र ध्यान है। यह अनार्य अर्थात् निंदनीय है।।21।।

'विषय संरक्षणानंद रौद्र ध्यान'

सद्दादि विसय साहण–धण–सारक्खण–परायण–मणिट्ठं।
सव्वाभिसंकण–परोवघाद–कलुसाउलं चित्तं॥22॥

अन्वयार्थ– (सद्दादि–विसय साहण) शब्दादि विषय के साधन भूत **(धण–सारक्खण)** धन के संरक्षण में **(परायणं)** परायण होना **(सव्व–अभिसंकणे)** सभी पर सशंकित होना तथा **(परोवघाद)** पर उपघात के हेतु **(कलुस–आउलं चित्तं)** कालुष्य और आकुल चित्त होने वाले के चौथा संरक्षणानंद रौद्र ध्यान है। **(अणिट्ठं)** यह अनिष्ट है, ऐसी इच्छा नहीं करनी चाहिये।

अर्थ– शब्दादिक इन्द्रिय विषय के साधन भूत धन के संरक्षण में परायण होना, सभी पर सशंकित (शंका से युक्त होना, अनिष्ट चिंतन में रत होना और पर उपघात के लिए कालुष्य और आकुल चित्त होने वाले के चौथा विषय संरक्षणानंद नामक अप्रशस्त रौद्र ध्यान जानो। यह अनिष्ट है, आत्महितैषी पुरुष कभी इसकी इच्छा नहीं करते।।22।।

'रौद्रध्यान के स्वामी'

इय करण कारणाणुमय–विसयमणुचिंतणं चदुब्भेदं[10]।
अविरइय–देससंजय–जणमण–संसेविद–मधण्णं॥23॥

अन्वयार्थ– (करण–कारण–अणुयम) कृत, कारित, अनुमोदना से **(विसयं–अणुचिंतणं)** विषय का पर्यालोचन अर्थात् अनुचिंतन से युक्त **(इय चदुब्भेदं)** यह चार भेद वाला रौद्र ध्यान **(अधण्णं अविरइद देससंजय)** अश्रेयस्कर है तथा अविरत और देशविरत **(जणमण संसेविदं)** जनों के मन द्वारा यथासंभव सेवित होता है।

अर्थ– कृत, कारित और अनुमोदना से विषय के पर्यालोचन अर्थात् अनुचिंतन से युक्त, यह चार प्रकार का रौद्र ध्यान अश्रेयस्कर है तथा अविरत और देश विरत जनों के मन द्वारा यथासंभव सेवित होता है।।23।।

'रौद्रध्यान के कारण और परिणाम'

एयं चदुव्विहं राग–दोस मोहाउलस्स जीवस्स।
रुद्दज्झाणं संसार–वद्धणं णरय–गदिमूलं॥24॥

अन्वयार्थ– (एयं) इस प्रकार **(चदुव्विहं रुद्दज्झाणं)** चार प्रकार का रौद्र ध्यान **(राग–दोस–मोह–आउलस्स)** राग–द्वेष–मोह और आकुल चित्त से युक्त **(जीवस्स)** जीव के होता है। **(संसार–वद्धणं)** वह संसार का वर्धक तथा **(णरय–गदिमूलं)** नरक गति का मूल होता है।

अर्थ– इस प्रकार उक्त चार प्रकार का रौद्र ध्यान राग–द्वेष–मोह और आकुल चित्त से युक्त जीव के होता है। यह रौद्र ध्यान संसार का वर्धन करने वाला तथा नरक गति का मूल होता है।।24।।

---

10. 'चउब्भेयं' इति पाठ।

'रौद्रध्यानी की लेश्याएँ'

कावोद–णील–काला–लेस्साओ तिव्व–संकलिट्ठाओ[11]।
रुद्दज्झाणोवगदस्स[12], कम्म–परिणाम–जणिदाओ[13]॥25॥

अन्वयार्थ– **(तिव्व–संकलिट्ठओ)** तीव्र संक्लेशित परिणामों से सहित **(कावोद–णील–काला–लेस्साओ)** कापोत, नील और कृष्ण ये तीन लेश्याएँ **(कम्म परिणाम जणिदाओ)** पूर्व उपार्जित कर्म परिणामों से उत्पन्न होती हैं, **(रुद्दज्झाण–उवगदस्स)** वे रौद्र ध्यानी के होती हैं।

अर्थ– तीव्र/प्रचण्ड संक्लिष्ट परिणामों से सहित कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ पूर्वोपार्जित कर्म परिणामों से उत्पन्न होती हैं, वे रौद्रध्यानी के होती हैं।।25।।

'रौद्रध्यान के दोष'

लिंगाणि तस्स उस्सण्ण[14]– बहुल–णाणाविहामरणदोसा।
तेसिं चिय हिंसादिसु, बाहिर–करणोवउत्तस्स॥26॥

अन्वयार्थ– **(उस्सण्ण बहुल)** उत्सन्न दोष, बहुल दोष **(णाणाविहा)** नानाविध दोष **(आमरण दोसा)** और आमरण दोष ये चारों ही **(तस्स लिंगाणि)** उस रौद्र ध्यान के चिह्न हैं। **(चिय)** जो कि निश्चय से **(तेसिं)** उन जीवों की **(हिंसादिसु)** हिंसा आदिक के **(बाहिर कारण)** बाहिर कारणों में **(उवउत्तस्स)** उपयोग लगाने से होते हैं।

अर्थ– उत्सन्न दोष, बहुल दोष, नाना विध दोष और आमरण दोष ये चारों ही उस रौद्र ध्यान के चिह्न हैं जो कि निश्चय से उन जीवों के हिंसा आदिक के बाह्य कारणों में उपयोग लगाने से अर्थात् उपयोग के द्वारा होते हैं।।26।।

'रौद्रध्यानी के लिंग'

परवसणं अहिणंददि, णिरवेक्खो णिद्दयो णिरणुतावो।
हरिसिज्जदि कद–पावो, रुद्दज्झाणोवगद–[15] चित्तो॥27॥

अन्वयार्थ– **(रुद्दज्झाण– उवगद–चित्तो)** रौद्र ध्यान में लीन जीव का चित्त **(परवसणं)** पर की विपदाओं को **(अहिणंददि)** चाहता है, **(णिद्दयो)** निर्दय होता है, **(णिरवेक्खो)** अपने कुकृत्यों की परवाह नहीं करता, **(णिरणुतावो)** उसे अपने क्रूर कृत्यों के लिए अनुताप भी नहीं होता है **(कद पावो)** और अपने किए हुए पापों में **(हरिसिज्जदि)** वह हर्षित होता जाता है।

---

11. संकिलिट्ठाओ' इति पाठः।
12. रुद्दज्झाणोवगयस्स' इति पाठः।
13. 'जणियाओ' इति पाठः।
14. 'ओसण्ण' इति पाठः।
15. 'रुद्दज्झाणोवगय' इति पाठः।

अर्थ– रौद्र ध्यान के रत जीव का (रौद्र ध्यानी का) चित्त व्यर्थ दूसरों पर आने वाली विपदाओं को चाहता है, उनका अभिनंदन करता है, निर्दय होता है, अपने कुकृत्यों की परवाह नहीं करता है, उसे अपने क्रूर कृत्यों के लिए अनुताप नहीं होता है और अपने किए हुए (कृत) पापों में वह हर्षित होता जाता है।।27।।

'धर्मध्यान के प्ररूपक द्वादश द्वार'

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहासण–विसेसं।
आलंबणं कमं झाइदव्वं च झेय–झायारो।।28।।
तत्तो अणुपेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च णाऊणं[16]।
झाणं झाएज्ज मुणी, तग्गद[17] जोगो तदो सुक्कं।।29।।

अन्वयार्थ– (झाणस्स भावणाओ) ध्यान की ज्ञानादि भावनाएँ, **(देसं कालं)** ध्यान का देश, ध्यान के काल, **(तह)** तथा **(आसण विसेसं)** ध्यान के विशेष आसन, **(आलंबणं कमं)** ध्यान के आलम्बन, ध्यान का क्रम, **(झेय)** ध्यान का विषय अर्थात् ध्येय, **(झायारो)** ध्यान करने वाले अर्थात् ध्याता **(च)** तथा **(अणुपेहाओ)** ध्यान के योग्य अनुप्रेक्षाएँ, **(लेस्सा)** ध्यान के योग्य लेश्या, **(लिंगं फलं च)** ध्यान के लिंग और ध्यान के फल को **(णाऊणं)** जानकर/समझकर **(तदो झाइदव्वं)** फिर धर्म ध्यान का चिंतन करना चाहिए। **(तत्तो)** इसके पश्चात् **(झाणं)** ऐसे ध्यान को **(तग्गद जोगो)** प्राप्त हुए चित्त के निरोध करने वाले **(मुणी)** मुनि को **(सुक्कं)** शुक्ल ध्यान का **(झाएज्ज)** चिन्तन करना चाहिए।

अर्थ– ध्यान की ज्ञानादि भावनाएँ, ध्यान के काल, ध्यान का देश, ध्यान के आसन विशेष, ध्यान के आलम्बन, ध्यान का क्रम, ध्यान का विषय अर्थात् ध्येय/ध्यातव्य, ध्यान के करने वाले अर्थात् ध्याता, ध्यान के योग्य अनुप्रेक्षाएँ, ध्यान के योग्य लेश्या, ध्यान के लिंग और ध्यान के फल को जानकर उसको समझकर फिर धर्म ध्यान का चिंतन करना चाहिए। इसके पश्चात् ऐसे ध्यान को प्राप्त हुए चित्त के निरोध करने वाले मुनि को शुक्ल ध्यान करना चाहिए।।28/29।।

'धर्मध्यान के योग्य भावनाएँ'

पुव्वकदब्भासो, भावणाहि झाणस्स[18] जोग्गद–मुवेदि।
ताओ य णाण दंसण–चारित[19] वेरग्ग–जणिदाओ।।30।।

अन्वयार्थ– (भावणाहि) जिसने भावनाओं के द्वारा **(पुव्व कद–अब्भासो)** पूर्व में/पहले उत्तम

16. 'णाऊण' इति पाठः।
17. 'तग्गय' इति पाठः।
18. 'ज्झाणस्स' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
19. 'चरित्त' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।

प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही **(झाणस्स जोग्गदं)** ध्यान की योग्यता को **(उवेदि)** प्राप्त होता है **(ताओ)** और वे भावनाएँ **(णाण–दसंण–चारित य)** समीचीन ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वैराग्य से **(जणिदाओ)** उत्पन्न होती है।

अर्थ– जिसने भावनाओं के द्वारा पूर्व में/ पहले उत्तम प्रकार से अभ्यास किया है वह पुरुष ही ध्यान की योग्यता को प्राप्त होता है और वे भावनाएँ सच्चे/सम्यग्ज्ञान दर्शन, चारित्र और वैराग्य से उत्पन्न होती हैं।।30।।

'ज्ञानभावना का स्वरूप व गुण'

णाणे णिच्चब्भासो[20], कुणदि मणोवारणं विसुद्धिं च।
णाण–गुण[21] मुणिय सारो, तो झायदि[22] णिच्चलमदीओ॥31॥

अन्वयार्थ– (णाणे णिच्चब्भासो) जिसने ज्ञान का निरन्तर अभ्यास किया है **(मण–उवारणं)** वह पुरुष ही मन का निग्रह **(च)** और **(विसुद्धिं)** विशुद्धि को **(कुणदि)** प्राप्त होता है **(णाण गुण मुणिय सारो)** तत्पश्चात् जिसने ज्ञान गुण के बल से सारभूत वस्तु को जान लिया है **(तो)** वही **(णिच्चल मदीओ)** निश्चल मति होकर **(झायदि)** ध्यान करता है।

अर्थ– जिसने सुबोध या श्रुतज्ञान का निरंतर अभ्यास किया है वह पुरुष ही मन का निग्रह अर्थात् मन को अलक्ष्य में जाने से रोककर अष्टांग विशुद्धि को प्राप्त करता है, तत्पश्चात् जिसने ज्ञान गुण के बल से सारभूत वस्तु को अर्थात् सात तत्त्व के निर्णय को, आत्म स्वरूप के निर्णय को जान लिया है वही निश्चल मति होकर ध्याता होता है, ध्यान करता है।।31।।

'दर्शन भावना का स्वरूप व गुण'

संकादि–सल्ल–रहिदो[23], पसमत्थेयादि–गुणगणोवइयो[24]।
होदि असम्मूढ–मणो, दंसण सुद्धीए झाणम्मि[25]॥32॥

अन्वयार्थ– (संकादि) जो शंकादि **(सल्ल रहिदो)** शल्यों से रहित है **(पसमत्थेय–आदि)** प्रशम, स्थिरता आदि **(गुणगणोवइयो)** गुण गणों से सहित है **(दंसण सुद्धीए)** वह दर्शन शुद्धि के कारण **(झाणम्मि)** ध्यान में **(असम्मूढ–मणो)** असम्मूढ मन वाला **(होदि)** होता है।

अर्थ– जो शंकादि शल्यों से रहित है तथा प्रशम, संवेग, अनुकंपा, आस्तिक्य, स्थिरता आदि गुण गणों से उपचित है अर्थात् सहित है, स्थिति प्रज्ञ है वह दर्शन शुद्धि के कारण ध्यान में असम्मूढ मन वाला होता है अर्थात् विपरीतता को प्राप्त नहीं होता।।32।।

20. 'णाणे य णिच्चभासो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
21. 'णाणा–गुण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
22. 'ज्झायइ' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
23. 'रहियो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
24. 'वईयो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68। वेदो– इति पाठः।
25. 'ज्झाणम्मि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।

'चारित्रभावना का स्वरूप व गुण'

णवकम्माणादाणं, पोराण वि णिज्जरा सुहादाणं।
चारित्त भावणाए, झाण[26] मयत्तेण य समेदि॥33॥

अन्वयार्थ– (चारित्त–भावणाए) चारित्र भावना के बल से **(अयत्तेण)** बिना किसी प्रयत्न से **(झाणं)** ध्यान प्राप्त होता है, **(समेदि णवकम्माण–आदाणं)** नवीन/नूतन कर्मों का ग्रहण नष्ट होता है, अर्थात् आस्रव नहीं होता है **(पोराण वि णिज्जरा)** पुराने कर्मों की भी निर्जरा होती है **(य)** तथा **(सुहादाणं)** शुभ कर्मों का आस्रव होता है।

अर्थ– चारित्र भावना के बल से बिना किसी प्रयत्न के द्वारा ध्यानमय अवस्था प्राप्त होती है, जो ध्याता होता है उसके नूतन/अभिनव कर्मों का ग्रहण अर्थात् आस्रव नहीं होता है, पुराने अर्थात् पुरातन कर्मों की विशेष प्रकार से निर्जरा होती है तथा शुभ कर्मों का आस्रव होता है।।33।।

'वैराग्यभावना का स्वरूप व गुण'

सुविदिदजगस्[27]सहावो, णिस्संगो णिब्भयो णिरासो य।
वेरग्ग–भाविदमणो, झाणम्मि[28] सुणिच्चलो होदि॥34॥

अन्वयार्थ– (सुविदिद–जगस्सहावो) जिसने भले प्रकार से परख लिया है जगत् के स्वभाव को, **(णिस्संगो)** जो निःसंग है, **(णिब्भयो य)** जो निर्भय है तथा **(णिरासो)** सर्व प्रकार की आशाओं से रहित है **(वेरग्ग भाविदमणो)** उसका मन वैराग्य की भावना से ओत–प्रोत होता है **(झाणम्मि सुणिच्चलो)** वही ध्यान में निश्चल **(होदि)** होता है।

अर्थ– जिसने भले प्रकार से परख लिया है, जान लिया है जगत् के स्वभाव को, जो निःसंग है अर्थात् चौबीस परिग्रह को छोड़कर नग्न होने से निःसंग है, जो निर्भय है अर्थात् जो सप्त विध भयों से रहित है और जो सर्व प्रकार की विषय आशाओं की इच्छा से रहित है उसका मन वैराग्य भावना से सुसंस्कारित हो जाता है, उसका मन वैराग्य भावना से ओतप्रोत होता है, वही ध्यान में सुनिश्चल अर्थात् निश्चल होता है।।34।।

'धर्मध्यान के योग्य देश'

णिच्चं चेव[29]जुवदि[30]पसु, णपुंसग[31]कुसील–वज्जिदं जदिणो।
ठाणं[32] वियणं भणिदं, विसेसओ[33] झाण कालम्मि॥35॥

---

26. 'ज्झाण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
27. 'सुविदियजयस' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
28. 'ज्झाणिम्मि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 68।
29. 'विय' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
30. 'जुवइ' इति पाठः।
31. 'णपुंसय' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
32. 'ट्ठाणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
33. 'विसेसदो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।

अन्वयार्थ– (जदिणो) यदि जनों के लिए **(णिच्चं चेव)** सतत ही **(जुवदि पसु)** युवति, पशु, **(णपुंसग कुसील वज्जिदं)** नपुंसक, कुशील आदि से रहित **(वियणं ठाणं)** विजन स्थान **(भणिदं)** कहा है। **(विसेसओ झाणकालम्मि)** ध्यान के काल में विशेष रूप से उपर्युक्त जनों से हीन होना चाहिए।

अर्थ– यतिजनों के लिए नित्य ही युवति (स्त्री), पशु, नपुंसक, कुशील आदि से रहित विजन स्थान कहा गया है। फिर भी विशेष करके ध्यान के काल में उपर्युक्त जनों से हीन होना चाहिए।।35।।

'धर्मध्यान के योग्य देश'

थिर कयजोगाणं[34]पुण, मुणीण झाणे सुणिच्चल[35]मणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णे रण्णे य ण विसेसो।।36।।

अन्वयार्थ– (पुण) किन्तु **(थिर कय जोगाणं)** जिन्होंने अपने काय आदि त्रय योगों को स्थिर कर लिया है **(झाणे सुणिच्चल मणाणं)** और जिसका मन ध्यान में सुनिश्चल है, **(मुणीण)** ऐसे मुनियों के लिए **(जणाइण्णे गामम्मि)** जनाकीर्ण ग्राम में **(य)** और **(सुण्णे रण्णे)** शून्य अरण्य में **(ण विसेसो)** कोई भी विशेष नहीं है, कोई अन्तर नहीं है।

अर्थ– किन्तु जिन्होंने, जिन नग्न श्रमणों ने अपने काय आदि त्रय योगों को स्थिर कर लिया है और जिसका मन ध्यान में निश्चल है, एकाग्र है, ऐसे मुनियों के लिए जनाकीर्ण ग्राम में, मनुष्यों से व्याप्त ग्राम में और शून्य अरण्य अर्थात् वन/अटवी में कोई भी विशेष नहीं है, कोई अन्तर नहीं है क्योंकि वे दोनों में अलिप्त रहते हैं अर्थात् वे ऐसे स्थानों में भी ध्यान कर सकते हैं।।36।।

'धर्मध्यान के योग्य अन्य देश'

जो[36] जत्थ समाहाणं, होज्ज मणो वयण काय जोगाणं[37]।
भूदो[38]वघाद, रहिदो, सो देसो झायमाणस्स।।37।।

अन्वयार्थ– (मणो–वयण–काय जोगाणं) मनोयोग, वचनयोग और काय योग का **(जत्थ समाहाणं)** जहाँ समाधान **(होज्ज)** होता है, **(जो भूद)** जो प्राणियों के **(उवघाद रहिदो)** उपघात से रहित हो **(सो देसो झायमाणस्स)** वह ध्यान करने वाले के लिए ध्यान के योग्य स्थान/देश माना गया है।

अर्थ– मनोयोग, वचनयोग और काययोग का जहाँ समाधान होता है, जो प्राणियों के वध अर्थत् उपघात से रहित हो, वह स्थान/प्रदेश ध्यान करने वाले ध्याता के लिए ध्यान के अनुकूल माना गया है।।37।।

34. 'जोग्गाणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 67। 35. 'णिच्चलेग्ग' इति पाठः।
36. 'तो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66। 37. 'जोग्गाणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66। 38. 'भूओ' इति पाठः।

'धर्मध्यान के योग्य काल'

कालो वि सोच्चिय जहिं, जोग–समाहाण–मुत्तमं लहदि।
ण उ दिवस–णिसा वेलादि[39], णियमणं झाइयो[40] समए॥38॥

अन्वयार्थ– **(कालो वि)** ध्यान का काल भी **(सोच्चिय जहिं)** वही योग्य है जिसमें **(उत्तम जोग समाहाणं)** उत्तम रीति से योगों का समाधान **(लहदि)** प्राप्त होता है **(उ)** क्योंकि **(झाइणो)** ध्यान करने वाले के लिए **(समए)** सिद्धांत में/आगम में **(दिवस–णिसा)** दिन, रात्रि की **(वेलादि)** वेलाओं आदि का **(णियमणं ण)** कोई भी नियमन नहीं किया है।

अर्थ– देश के समान ध्यान का काल भी वही उचित है जिसमें उत्तम रीति से मन योग, वचन योग और काय योग का समाधान को प्राप्त होता है क्योंकि ध्याता के लिए आगम में दिन, रात्रि की वेलाओं का समय आदि का कोई भी नियम नहीं है।।38।।

'धर्मध्यान के योग्य आसन'

जच्चिय देहावत्था, जदा ण झाणावरोहिणी[41] होदि।
झाएज्जो[42] तदवत्थो, ठिदो[43] णिसण्णो णिवण्णो[44] वा॥39॥
सव्वासु वट्टमाणा, मुणिणो[45] जं देस–काल–चेट्ठासु।
वर केवलादि[46] लाहं, पत्ता बहुसो खविय–पावा॥40॥

अन्वयार्थ– **(जच्चिय देहावत्था)** जैसे देह की अवस्था **(जदा)** जिस समय **(ण–झाण–अवरोहिणी)** ध्यान में बाधक नहीं **(होदि)** होता है **(तदवत्थो)** उस अवस्था में **(ठिदो)** रहते हुए **(णिवण्णो वा णिसण्णो)** खड़े होकर अथवा बैठकर (कायोत्सर्ग पूर्वक) **(झाएज्जो)** ध्यान करना चाहिए **(जं)** क्योंकि **(सव्वासु देस काल चेट्ठासु)** सब देश, सब काल और सब अवस्थाओं में **(वट्टमाणा मुणिणो)** विद्यमान मुनियों ने **(बहुसो)** अनेक विध से **(खविय पावा)** पापों का क्षय करके **(वर केवल–आदि)** उत्तम केवलज्ञान आदि **(लाहं पत्ता)** लाभ को प्राप्त हुए है।

अर्थ– जैसे देह की कोई भी अवस्था ध्यान में जिस समय बाधक नहीं हो वैसे उस अवस्था में स्थित रहते हुए खड़े होकर अथवा बैठकर जैसी भी अवस्था हो, कायोत्सर्ग पूर्वक उसमें ध्यान करना चाहिए क्योंकि सर्व देश, सर्व काल और सर्व अवस्थाओं में विद्यमान श्रमणों ने बहुत प्रकार से अर्थात् अनेक विध से पापों का क्षपण करके श्रेष्ठ/उत्तम केवलज्ञान आदि लाभ को प्राप्त हुए हैं।।39/40।।

---

39. 'वेलाइ' इति पाठः.
40. 'ज्झाइणो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 67।
41. ज्झाणोवरोहणी' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
42. 'ज्झाएज्जो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
43. 'ट्ठियो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
44. 'णिव्वण्णो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
45. 'मुणओ' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।
46. 'केयलादि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 66।

'धर्मध्यान के लिए योग समाधान की अनिवार्यता'

तो देस काल चेट्ठा, णियमो झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाणं, जह होदि तहा पयइदव्वं॥41॥[47]

अन्वयार्थ– (समयम्मि) सिद्धान्त शास्त्र में **(झाणस्स)** ध्यान के **(देस–काल–चेट्ठा)** देश, काल और अवस्थाओं का **(णियमो णत्थि)** कोई नियम नहीं है। **(तो)** तत्त्वतः **(जह)** जिस प्रकार **(जोगाण समाहाणं)** योगों का समाधान **(होदि)** होता है **(तहा)** उस तरह **(पयइदव्वं)** प्रवृत्ति करना चाहिए।

अर्थ– ध्यान के देश, काल और अवस्थाओं का सिद्धान्त शास्त्र में, आगम में कोई आग्रहपूर्ण नियम नहीं है। तत्त्वतः जिस प्रकार भी योगों का समाधान हो या उनकी चंचलता जैसे भी रुके उसी प्रकार प्रवृत्ति करना चाहिए।।41।।

'धर्मध्यान के योग्य आलम्बन'

आलंबणाणि[48] वायण–पुच्छण–परियट्टणाणुपेहाओ।
सामाइयादियाइं[49], सद्धम्मावस्सयाइं[50] च॥42॥

अन्वयार्थ– (वायण पुच्छण) वाचना, पृच्छना, **(परियट्टण–अणुपेहाओ)** परिवर्तना, अनुप्रेक्षा, **(सामाइयादियाइं च)** और सामायिक, प्रतिक्रमण आदि **(आवस्सयाइं)** छह आवश्यकों का **(सद्–धम्म)** सद्धर्म रूप से करना **(आलंबणाणि)** ये सब ध्यान के आलम्बन हैं।

अर्थ– ग्रंथ और अर्थ का सिखाने रूप वाचना (स्वाध्याय), वस्तु के निर्णय के लिए तथा निर्णीत की दृढ़ता के लिए प्रश्न करने रूप पृच्छना, श्रुत के पाठों के शुद्ध उच्चारण रूप परिवर्तना, उनके स्वरूप का यथार्थ चिंतन करने रूप अनुप्रेक्षा और सामायिक आदि छह आवश्यकों का सद् धर्म रूप से करना, ये सब ध्यान के आलम्बन हैं।।42।।

'धर्मध्यान के योग्य अन्यालंबन'

विसयेहि समारोहदि, दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
अत्तादिकयालंबो, तह झाणवरं समारुहदि॥43॥

अन्वयार्थ– (जहा पुरिसो) जैसे कोई पुरुष **(दिढदव्वालंबणो)** नसैनी आदि नाना दृढ़ आलंबन के द्वारा **(विसयेहि समारोहदि)** विषय रूप द्रव्यों से ऊपर चढ़ जाता है, **(तह)** वैसे ही

---

47. यह गाथा सूत्र 26 धवला पुस्तक 13 में यथावत् पृष्ठ 67 में उद्धृत है।
48. 'आलंबणाइं' इति पाठः।
49. 'सामाइयादियाइं' इति पाठः।
50. 'सव्व आवासयाइं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 67।

(अत्तादिकालंबो) आत्मद्रव्य आदि छह द्रव्यों के स्वरूप चिंतन रूप आलंबन से ध्याता **(झाणवरं समारुहदि)** उत्तम ध्यान में आरोहण करता है।

अर्थ– जैसे कोई पुरुष नसैनी रस्सी आदि नाना दृढ़ आलंबन के द्वारा विषय द्रव्यों से ऊपर चढ़ जाता है, आरोहण करता है, वैसे ही आत्म द्रव्य आदिक छह द्रव्यों के स्वरूप चिंतन रूप आलंबन से ध्याता उत्तम/श्रेष्ठ ध्यान (धर्म ध्यान) में आरोहण करता है।।43।।

-----*-----*-----*-----*-----*-----*-----*-----

विशेष : यह गाथा धवला जी में निम्न परिवर्तनों के साथ उद्धृत है–

विसमंहि समारोहइ, दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
सुत्तादिकयालंबो, तह झाणवरं समारुहइ।।पृ.67।।

अर्थ– जिस प्रकार कोई पुरुष नसैनी आदि दृढ़ द्रव्य के आलम्बन से विषम भूमि पर भी आरोहण करता है उसी प्रकार ध्याता भी सूत्र आदि के आलंबन से उत्तम ध्यान पर आरोहण करता है, उसे प्राप्त होता है।

-----*-----*-----*-----*-----*-----*-----*-----

'धर्मध्यान व शुक्लध्यान निग्रह क्रम'

झाणप्पडिवत्ति–कमो, होदि मणो–जोग–णिग्गहादीओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।।44।।

अन्वयार्थ– (झाणप्पडिवत्ति कमो) शुक्ल ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम **(मणोजोग णिग्गहादीओ)** मनोयोग आदि के निग्रहादिक की **(होदि)** अपेक्षा से होता है। **(भवकाले केवलिणो)** यह कथन भवकाल में केवलियों के विषय में कहा गया है **(सेसाण)** किन्तु शेष छद्मस्थों के धर्मध्यान **(जहा समाहीए)** जैसा क्रम समाधि काल में है वैसा ही जानना चाहिए।

अर्थ– शुक्ल ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम मनोयोग, वचनयोग व काय योग के निग्रहादिक की अपेक्षा से होता है अर्थात् अपेक्षा रखता है। यह कथन भवकाल में, मोक्षप्राप्ति के पूर्व अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल तक रहने वाली शैलेषी अवस्था में केवलियों के विषय में कहा गया है किन्तु शेष छद्मस्थों के धर्म ध्यान जैसा क्रम समाधि काल में है वैसा ही जानना चाहिए। अर्थात् जैसे समाधि काल में है वैसा ही जानना चाहिए। अर्थात् जैसे समाधि काल में तीन योगों की संक्रांति होते हुए या एक योग में ध्यान की प्राप्ति का जैसा क्रम है वैसा ही जानना चाहिए।।44।।

- अब यहाँ धर्म ध्यान के ध्यातव्य के चार भेदों की प्ररूपणा प्रारम्भ होती है।

'आज्ञाविचय धर्मध्यान'

सु–णिउण–मणादिणिहणं, भूदहिदं[51] भूद[52]भावण–मणग्घं।
अमित–मजिदं[53] महत्थं, महाणुभावं महाविसयं॥45॥
झाएज्जो[54] णिरवज्जं, जिणाणमाणं जगप्पदीवाणं।
अणिउण–जण–दुण्णेयं, णयभंगपमाण–गमगहणं[55]॥46॥

अन्वयार्थ– **(सु–णिउण)** जो सु–निपुण है, **(अणादि णिहणं)** अनादि निधन है, **(भूदहिदं)** जीवों का हित करने वाली है, **(भूद–भावणं)** जीवों के द्वारा सेवित है, **(अणग्घं)** अनर्घ/अमूल्य है, **(अमिदं अजिदं)** जो अमित है, अजित है, **(महत्थं)** महान् अर्थ वाली है, **(महाणुभावं महाविसयं)** जो महानुभाव है, महान् प्रमेय को जानने वाली है, **(णिरवज्जं)** जो निरवद्य है, **(अणिउण जण दुण्णेयं)** अनिपुण जनों के लिए दुर्ज्ञेय है, **(णय भंग पमाण–गम–गहणं)** और जो नय भंग तथा प्रमाण गम से गहन है, **(जगप्पदीवाणं)** ऐसी जगत् के प्रदीप स्वरूप **(जिणाणं आणं)** जिन भगवान् की आज्ञा का **(झाएज्जो)** ध्यान करना चाहिए। यह धर्म ध्यान का प्रथम भेद है।

अर्थ– जो सु–निपुण है, अनादिनिधन है, जगत् के जीवों का हित करने वाली है, जगत् के जीवों के द्वारा सेवित है अथवा जगत् के जीव जिसका चिंतन करते हैं, अमूल्य है अर्थात् अनर्घ है, अमित है अर्थात् अपरिमित है, अजित है अर्थात् जिसे किसी के द्वारा जीता नहीं जा सकता है, महान् अर्थ वाली है, महान् विषय वाली है अर्थात् महान् प्रमेय को जानने वाली है, निरवद्य है, अनिपुण जनों के लिए दुर्ज्ञेय है और नय भंग तथा प्रमाणागम से गहन है; ऐसी जगत् के प्रदीप स्वरूप जिन भगवान् की आज्ञा को ध्याना चाहिए अर्थात् ध्यान करना चाहिए। यह धर्मध्यान का 'आज्ञा विचय' नामक प्रथम भेद है।।46/46।।

'आज्ञा विचय धर्मध्यान'

तत्थ मदि–दुब्बलेण य, तव्विज्जायरिय विरहिदो[56] वा वि।
णेय–गहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं[57] च॥47॥
हेदु–उदाहरणासंभवे[58]य सइ[59] सुट्ठु जं ण[60] बुज्झेज्जो।
सव्वण्णु–मद–मवितहं[61], तहाविहं चिंतए मदिमं[62]॥48॥

51. 'भूयहियं' इति पाठः।
52. 'भूय' इति पाठः।
53. 'अमियमजियं' इति पाठः।
54. 'ज्झाएज्जो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
55. णयभंगसमाणगमगमणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
56. 'विरहियो' इति पाठः।
57. 'णाणावरणादिएणं इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
58. 'हेदूदाहरणासंभवे' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
59. 'सरि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
60. 'सुट्ठुज्जाण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
61. 'मवितत्थं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।
62. 'मइमं' इति पाठः।

अन्वयार्थ– **(तत्थ)** उस विषय में अर्थात् आज्ञा के विषय में **(मदि–दुब्बलेण)** मतिज्ञान की दुर्बलता के होने से **(य)** अथवा **(तव्विज्जा–आयरिय–विरहिदो)** उस विद्या के जानकर आचार्यों का विरह होने से **(वा)** अथवा **(णेय गहणत्तणेण)** ज्ञेय पदार्थों की गहनता होने से **(य)** और **(णाणावरणोदएणं)** ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के उदय के रहने से **(च)** तथा **(हेदु–उदाहरण–असंभवे य)** हेतु और उदाहरण सम्भव न होने से, **(सअ सुट्ठु जं ण)** उस विषय में स्वतः ठीक न **(बुज्झेज्जो)** जान सके **(मदिमं)** तो मतिमान् ध्याता **(सव्वण्णु मदं अवितहं)** 'सर्वज्ञ प्रतिपादित मत ही सत्यार्थ है' **(तहा विहं चिंतए)** उसी तरह के स्याद्वाद मार्ग का चिंतन करें। यह आज्ञा विचय नामक धर्म ध्यान है।

अर्थ– उस विषय में अर्थात् जिनाज्ञा के विषय में मतिज्ञान की दुर्बलता के होने से अथवा उस विद्या के बतलाने वाले/जानकर आचार्य के विरह होने से, ज्ञेय पदार्थ की गहनता के कारण और ज्ञानावरण कर्म के विशेष प्रकार से उदय के रहने से तथा हेतु और उदाहरण के संभव न होने पर उसके विषय में स्वतः ठीक न जान सके तो मतिमान ध्याता 'सर्वज्ञ का मत ही सत्यार्थ है' ऐसे इस स्याद्वाद मत का, मार्ग का चिन्तन करना चाहिए। यह आज्ञा विचय नामक धर्म ध्यान है।।47/48।।

–––––*–––––*–––––*–––––*–––––*–––––*–––––

विशेष– यह गाथा धवलाजी में कुल अर्थ भेद के साथ है–

हेदूदाहरणासंभवे य सरि – सुट्ठुज्जाण बुज्जेज्जो।
सव्वण्णु–मय–मवितत्थं, तहाविहं चिंतए मदिमं॥36ध.पु.13॥

अर्थ– हेतु तथा उदाहरण सम्भव न होने से, नदी और सुखोद्यान आदि चिन्तन करने योग्य स्थान में मतिमान् ध्याता 'सर्वज्ञप्रतिपादित मत सत्य है' ऐसा चिन्तन करें।

–––––*–––––*–––––*–––––*–––––*–––––*–––––

'जिन का स्वरूप'

अणुवकद[63]–पुराणुग्गह, परायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जिद राय दोस मोहा, ण अण्णहा वादिणो[64] तेण॥49॥

अन्वयार्थ– **(अणुवकद)** पर कृत प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए **(जं)** जो **(पराणुग्गह परायणा)** पर का उपकार करने में परायण/तत्पर हैं, **(जिद–राय–दोस मोहा)** जो राग–द्वेष और मोह के विजेता हैं; **(जिणा जगप्पवरा)** वे जिन भगवान् जगत् में प्रवर अर्थात् श्रेष्ठ हैं, **(तेण)** इसलिए वे **(अण्णहा वादिणो ण)** अन्यथावादी नहीं होते हैं।

63. 'अणुवक' इति पाठः। 64. 'वाइणो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 71।

अर्थ– जो पर कृत प्रत्युपकार की अपेक्षा न करते हुए पर उपकार करने वाले हैं; जो राग, द्वेष और मोह के विजेता हैं, वे जिन भगवान् जगत् में उत्तम अर्थात् प्रवर हैं इसलिए जिनेन्द्र देव अन्यथावादी नहीं होते हैं।।49।।

'अपायविचय धर्मध्यान'

राग–द्दोस कसायासवादि–किरियासु वट्टमाणाणं।
इह पर लोयापाए,[65] जाएज्जो[66] वज्ज–परिवज्जी॥50॥

अन्वयार्थ– (वज्ज परिवज्जी) पाप का त्याग करने वाले साधु **(राग–द्दोस–कसाय)** राग, द्वेष, कषाय **(आसवादि किरियासु)** और आस्रव आदि क्रियाओं में **(वट्टमाणाणं)** विद्यमान जीवों के **(इह–पर–लोय–अपाए)** इस लोक और परलोक से अपाय का अर्थात् अनर्थ का **(झाएज्जो)** चिन्तन करना चाहिए। यह अपाय विचय धर्म–ध्यान है।

अर्थ– वर्ज्य मिथ्यात्व और पाप आदि का त्याग करने वाले श्रमण राग, द्वेष, कषाय और आस्रव आदि क्रियाओं में विद्यमान जीवों का मिथ्यात्व के रहने पर इस लोक और पर लोक में बड़ी भारी हानि के साथ अनर्थ, अकल्याण होता है; इस प्रकार से चिन्तन करना चाहिए। यह दूसरा अपाय विचय धर्मध्यान है।।50।।

'विपाकविचय धर्मध्यान'

पयडिट्ठिदिप्पदेसा[67]णुभाग–भिण्णं सुहासुह–विहत्तं।
जोगणुभाग–जणिदं, कम्मविवागं विचिंतेज्जो॥51॥

अन्वयार्थ– (पयडिट्ठिदि) जो प्रकृति, स्थिति, **(प्पदेस–अणुभाग भिण्णं)** प्रदेश और अनुभाग इन चारों पृथक्–पृथक् भागों में विभक्त है, **(सुह–असुह–विहत्तं)** जो शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है **(जोग–अणुभाग जणिदं)** तथा जो योग और अनुभाग अर्थात् कषाय से उत्पन्न हुआ है **(कम्मविवागं विचिंतेज्जो)** ऐसे कर्म के विपाक का चिंतन करना चाहिए। यह विपाक विचय धर्मध्यान है।

अर्थ– जो प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश के भेद से पृथक्–पृथक् चार प्रकार का बंध, शुभ और अशुभ योग के निमित्त से पुण्य और पाप इन दो भागों में विभाजित होने वाला है तथा जो योग और अनुभाग अर्थात् कषाय से उत्पन्न हुआ है, ऐसे कर्म के विपाक का चिंतन करना विपाक विचय धर्म ध्यान है।।51।।

---

65. 'लोगोवाए' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 72।
66. 'ज्झाएज्जो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 72।
67. 'पयडिठिदिपदेसा' इति पाठः।

'संस्थानविचय धर्मध्यान'

जिण–देसयादि[68]–लक्खण–संठाणासण–विहाणमाणाइं[69]।
उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि[70], पज्जया णेय[71]–दव्वाणं॥52॥

पंचत्थिकायमइयं, लोग–मणादि–णिहणं जिणक्खादं[72]।
णामादि भेदेविहिदं, तिविह–महोलोग–भागादि[73]॥53॥

खिदिवलय–दीव[74]–सायर, णिरय विमाण[75]भवणादि[76]संठाणं।
वोमादि–पडिट्ठाणं[77], णिययं[78] लोगट्ठिदि–विहाणं॥54॥

उवजोग लक्खणमणादि–णिहण–मत्थंतरं सरीरादो[79]।
जीव–मरूविं कारिं, भोइं च[80] सयस्स कम्मस्स॥55॥

जस्स[81] य सकम्म–जणिदं, जम्मादि जलं कसाय–पायालं।
वसण सय सावयमयं[82], मोहावत्तं महाभीमं॥56॥

अण्णाण–मारुदेरिद–संजोग–विजोग–वीचि–संताणं।
संसार–सागर–मवार–पारमसुद्धं विचिंतज्जा॥57॥

अन्वयार्थ– (जिणदेसयादि) जिनदेव के द्वारा प्रतिपादित **(लक्खण)** छह द्रव्यों के लक्षण, **(संठाण–आसण)** संस्थान, आधार अर्थात् रहने का स्थान, **(विहाणं–आणाइं)** भेद, प्रमाण **(उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि–पज्जाया)** उत्पाद–स्थिति और व्यय आदि से सहित पर्यायें **(णेय दव्वाणं)** जो ज्ञेय द्रव्यों की है उनका; **(जिणक्खादं)** जिन भगवान् के द्वारा प्रज्ञप्त **(पंचत्थिकाय–मइयं लोगं)** पांच अस्तिकायमय लोक **(अणादि णिहणं)** अनादि निधन, **(णामादि भेद)** नामादि अनेक भेद रूप **(विहिदं तिविहं–अहो–लोग–भागादिं)** और अधोलोक आदि भागरूप से कथित तीन प्रकार के लोक का; **(खिदिवलय)** तथा पृथ्वी, वलय, **(दीव–सायर–णिरय)** द्वीप, सागर, नरक, **(विमाण**

68. 'देसियाइ' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
69. 'विहाणमाइ' इति पाठः।
70. 'उप्पाय ट्ठिदिभंगादि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
71. 'जे य' इति पाठः।
72. 'जिणक्खायं' इति पाठः।
73. 'णामाइ भेय भिण्ण विहियं तिविह महो–लोय भंगा' इति पाठः।
74. 'दीप' इति पाठः।
75. 'सायर–सुरणरय विमाण'/'सायर णयर विमाण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
76. 'भवणाइ' इति पाठः।
77. 'वोमाइ पइट्ठाणं' इति पाठः।
78. 'णिययण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
79. 'सरीराओ' इति पाठः।
80. 'भोइच्च' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
81. 'तस्स इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
82. 'सावमीणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।

भवणादि संठाणं) विमान, भवन आदि के संस्थान का; **(वोमादि–पडिट्ठाणं)** आकाश में प्रतिष्ठान/आश्रय, **(णिययं– लोगट्ठिदि–विहाणं)** नियत और लोक स्थिति आदि भेद का; **(उवओग लक्खणं)** जीव उपयोग लक्षण वाला है, **(अणादि णिहणं)** अनादि निधन है, **(अत्थंतरं जीवं सरीरादो)** शरीर से अर्थांतर है, **(अरूविं कारिं भोइं च सयस्स कम्मस्स)** अरूपी है तथा स्वकृत कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है **(य जस्स)** और जिसके **(सकम्म–जणिदं)** स्व कर्म–जनित **(जम्मादि जलं)** जन्मादि जल है; **(कसाय पायालं)** उसमें कषाय रूपी पाताल है, **(वसण सय सावयमयं)** तथा जिसमें सैकड़ों व्यसन विपदारूप सिंह की भाँति मगर/मत्स्य वगैरह हैं **(मोहावत्तं महाभीमं)** तथा जिसमें मोह रूपी आवर्त हैं और अत्यंत भयंकर है उसका; **(अण्णाण मारुद–इरिद)** तथा जिसमें अज्ञान रूपी हवा से प्रेरित होकर **(संजोग–विजोग)** संयोग–वियोग रूप **(वीचि संताणं)** तरंग–संतान उत्पन्न हो रही है **(संसार सागरं)** ऐसा यह संसार सागर **(अवार पारं)** अपार पार है अर्थात् रोकने में असमर्थ है, **(असुद्धं)** अशुद्ध है; **(विचिंतेज्जा)** ऐसा चिंतन करना चाहिए। यह संस्थान विचय धर्मध्यान है।

अर्थ– जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे गए छह द्रव्यों के लक्षण, संस्थान, आधार अर्थात् रहने का स्थान, भेद, प्रमाण (मान), उत्पाद–व्यय–ध्रौव्य से सहित पर्यायें जो ज्ञेय द्रव्यों की हैं उनका ध्यान करना चाहिए।।52।।

जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा प्रज्ञप्त पाँच अस्तिकायमय लोक अनादिनिधन, नामादि अनेक भेद रूप और अधोलोक आदि भागरूप से कथित तीन प्रकार के लोक का ध्यान करना चाहिए।।53।।

तथा पृथ्वी, वलय, द्वीप, सागर, नरक, नगर, विमान, भवन आदि के संस्थान का और आकाश में प्रतिष्ठान/आश्रय, नियत और लोक स्थिति आदि भेद का ध्यान करना चाहिए।।54।।

जीव उपयोग लक्षण वाला है, अनादि निधन है, शरीर से अर्थांतर है अर्थात् भिन्न है, अरूपी है तथा स्वकृत कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है और जिसके स्वकर्म जनित जन्मादि जल है; उसमें कषाय रूपी पाताल है तथा जिसमें सैकड़ों व्यसन विपदा रूप अष्टापद की भाँति मगर–मत्स्य बगैरह हैं तथा जिसमें मोह रूपी आवर्त है (भँवर) और अत्यंत भयंकर है अर्थात् जिसमें मोह का महाभीम भँवर उठा रही है उसका ध्यान करना चाहिए।।55–56।।

यह संसार सागर अवार पार है अर्थात् रोकने में असमर्थ है, अशुद्ध है तथा इसमें अज्ञान रूपी हवा से प्रेरित होकर संयोग–वियोग रूप तरंग–संतान उत्पन्न हो रही है, ऐसा चिंतन करना चाहिए। यह संस्थान विचय धर्मध्यान है।।57।।

'संसार सागर से तरने के उपाय, श्रेष्ठ ध्यातव्य स्वतत्त्व तथा ध्यातव्य का उपसंहार'

तस्स य संतरण–सहं, सम्मदंसण सुणिबंधण-मणग्धं।
णाणमयकण्णधारं[83] चारित्त[84] मयं महापोदं[85]॥58॥
संवरकद–णिच्छिद्दं, तव–पवणाइद्ध–जवण–दर वेगं।
वेरग्ग–मग्ग–पडियं, विसोत्तिया वीचि– णिक्खोभं॥59॥
आरोढुं मुणि–वणिया, महग्घ सीलंग रदण परिपुण्णं।
जह तं णिव्वाणपुरं, सिग्घमविग्घेण पावंति॥60॥
तत्थ य ति–रदण–विणियोगमइय–मेगंतियं णिराबाहं।
साभाविदं णिरुवमं, जह सोक्खं अक्खय–मुवेंति[86]॥61॥
किं बहुणा[87] सव्वं चिय, जीवादि[88] पदत्थ वित्थरो वेयं।
सव्वणय समूहमयं, झाएज्जो समय–सब्भावं॥62॥

अन्वयार्थ– (तस्स) उस संसार समुद्र से **(सतंरण सहं)** भले प्रकार से तैराने में, तारने में समर्थ **(सम्मदंसण)** जिसका सम्यग्दर्शन रूप **(सुणिबंधणं अणग्घं)** अमूल्य सुकारण है, **(णाणमयं कण्णधारं)** सम्यग्ज्ञान रूप जिसका कर्णधार है **(य)** तथा **(चारित्तमय–महापोदं)** श्रेष्ठ चारित्र से युक्त जिसका महोपोत है अर्थात् महान् नाव है **(संवरमय–णिच्छिद्दं)** संवर कृत जिसमें निश्छिद्रता है **(तव–पवणाइद्ध)** तथा जिसमें तप रूपी पवन से बढ़ा हुआ **(जवण–दर–वेगं)** नमस्कार के जाप रूप बड़ा भारी वेग है **(वेरग्ग–मग्ग–पडियं)** तथा जो वैराग्य के मार्ग की ओर बढ़ रहा है **(विसोत्तिया वीचि णिक्खोभं)** तथा विमार्ग गमन अर्थात् कुश्रुत की लहरों से/तरंगों से होने वाले क्षोभ जिसके मार्ग में नहीं है **(मुणि–वणिया)** तथा श्रमण रूपी वणिक **(आरोढुं)** उसमें आरूढ़ होते हैं **(महग्घ सीलंग)** तथा जो महा अर्घ शील के भेद रूप **(रदण–परिपुण्णं)** रत्नों से परिपूर्ण है। **(तं जह)** इसलिए वह **(णिव्वाणपुरं)** निर्वाणपुर को **(अविगघेण)** बाधा रहित होते हुए **(सिग्घं)** शीघ्र ही **(पावेंति)** प्राप्त करते हैं, **(य)** और **(ति–रदण)** रत्नत्रय के **(विणियोग मइयं)** विनियोग से युक्त **(एगंतियं)** एकान्तिक **(णिराबाहं)** निराबाध अर्थात् बाधा रहित, **(साभाविदं)** स्वाभाविक, **(णिरुवमं)** निरुपम **(अक्खयं सोक्खं)** और अक्षय सुख को **(तत्थ)** वहाँ **(उवेंति)** वे जीव प्राप्त करते हैं। **(किं बहुणा)** बहुत अधिक कहने से क्या? **(सव्वं जीवादि)** सम्पूर्ण जीवादि **(पदत्थ वित्थरो)** पदार्थों का विस्तार **(वेयं)** कहा गया है **(सव्वणय समूहमयं)** वह सर्वनय समूहमय है अर्थात् सर्वनय समूह का विषय है; **(समय सब्भावं)** अतः समय के सद्भाव को अर्थात् स्याद्वाद से आत्म सिद्धान्त के सद्भाव को **(चिय)** ही **(झाएज्जो)** ध्याना चाहिए।

83. 'कण्णहारं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73। 84. 'चरित्त' इति पाठः। 85. 'महापोयं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।

अर्थ– उस संसार समुद्र से भले प्रकार तैराने में अर्थात् तारने में समर्थ उत्तम चारित्र रूपी महापोत है, महान् नाव है, जिसका सम्यग्दर्शन रूप अमूल्य सुकारण/बंधन है तथा सम्यग्ज्ञान रूप जिसका कर्णधार चालक है।।58।। संवर कृत जिसमें निश्छिद्रता है तथा जिसमें तप रूपी पवन से बढ़ा हुआ नमस्कार के जाप रूप बड़ा भारी वेग है तथा जो वैराग्य के मार्ग की ओर बढ़ रहा है तथा विमार्ग गमन अर्थात् कुश्रुत की लहरों से/तरंगों से होने वाले क्षोभ जिसके मार्ग में नहीं है।।59।। तथा श्रमण रूपी वणिक उसमें आरूढ़ होते हैं तथा महा अनर्घ शील के भेद रूप रत्नों से परिपूर्ण हैं, इसलिए वह बाधा रहित होते हुए निर्वाणपुर को शीघ्र ही प्राप्त करते हैं।।60।। और रत्नत्रय के विनियोग से युक्त, एकान्तिक, निराबाध अर्थात् बाधा रहित, स्वाभाविक, निरुपम अर्थात् उपमा रहित और अक्षय सुख को वहाँ वे जीव प्राप्त करते हैं।।61।। तथा बहुत अधिक कहने से क्या यह जितना अर्थात् सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों का विस्तार कहा गया है वह सर्वनय समूहमय है अर्थात् सर्वनय समूह का विषय है; अतः समय सद्भाव का अर्थात् स्याद्वाद से आत्म सिद्धान्त के सद्भाव को ही ध्याना चाहिए, उसका ही ध्यान करना चाहिए। अर्थात् किसी एक नय का आग्रह न करके चारों अनुयोगों का अनुसरण करके निष्पक्ष होकर ध्यान करना चाहिए।।62।।

'धर्मध्यान के ध्याता'

सव्व–पमाद–विरहिदा, मुणओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो णाणधणा, धम्मज्झाणस्स णिद्दिट्ठा।।63।।

अन्वयार्थ– (मुणओ) जो मुनि **(सव्व पमाद विरहिदा)** सर्व प्रमाद से रहित हैं **(खीण–उवसंत मोहा य)** उपशान्त मोही हैं अथवा क्षीण मोही हैं वे **(णाणधणा)** ज्ञान धन वाले श्रमण **(धम्मज्झाणस्स)** वस्तु स्वरूप धर्मध्यान के **(झायारो णिद्दिट्ठा)** सर्वज्ञ देव के द्वारा ध्याता कहे गए हैं।

अर्थ– जो मुनि सर्व प्रमाद से रहित हैं तथा जो व्यक्त और अव्यक्त पंद्रह प्रमाद से रहित सातवें, आठवें, नौवें, दसवें, गुणस्थान वाले अप्रमत्त हैं वे और ग्यारहवें में उपशान्त मोही तथा बारहवें गुणस्थान वाले क्षीणमोही हैं। वे ज्ञान धन वाले श्रमण वस्तु स्वरूप धर्म के ध्यान में लीन ध्याता कहे गए हैं।।63।।

'शुक्लध्यान के ध्याता'

ए एच्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थ संघयणा।
दोण्णि सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो।।64।।

अन्वयार्थ– (ए एच्चिय) इन ही पूर्वोक्त धर्म ध्यान के ध्याता **(पुव्वधरा–सुप्पसत्थ–संघयणा)** जो सुप्रशस्त संहनन वाले तथा पूर्वधर (श्रुतकेवली) होते हैं **(पुव्वाणं)** वे पूर्व दो शुक्ल ध्यान के ध्याता हैं। **(दोण्णि)** अन्तिम दो **(सुक्काण पराण)** शुक्ल ध्यान से युक्त **(सजोग–अजोगा–केवलिणो)** क्रमशः सयोग केवली और अयोग केवली होते हैं।

अर्थ– ये ही पूर्वोक्त धर्मध्यान के ध्याता पूर्व दो शुक्ल ध्यानों के ध्याता होते हैं। उनकी सुप्रशस्त संहनन होती हैं तथा वे पूर्वधर होते हैं अर्थात् वे पूर्वों के भाव ज्ञान से सहित होते हैं। अंतिम दो शुक्ल ध्यान से युक्त क्रमशः सयोग केवली और अयोग केवली होते हैं। अर्थात् सयोग केवली और अयोग केवलियों के अंतिम दो शुक्ल ध्यान यथा अवसर होते हैं।।64।।

'धर्म ध्यान के असद्भाव में अनुप्रेक्षा'

झाणोवरमे[89] वि मुणी, णिच्च–मणिच्चादि–चिंतणा–परओ[90]।
होदि सुभाविद–चित्तो[91], धम्मज्झाणेण जो पुव्विं[92]॥65॥

अन्वयार्थ– (झाण–उवरमे) ध्यान के उपरम होने पर **(वि मुणी)** भी मुनि **(णिच्चं)** निरंतर **(अणिच्चादि)** अनित्यादि भावनाओं के **(चिंतणा–परओ)** चिंतन में तत्पर होता है, कौन? **(जो पुव्विं)** वह जो पूर्व में **(धम्मज्झाणेण)** धर्म ध्यान से **(सुभाविद–चित्तो)** सुभावित चित्त वाला **(होदि)** होता है।

अर्थ– जो मुनि पूर्व में धर्म ध्यान से सुभावित चित्त वाले होते हैं वे ध्यान के उपरम होने पर भी (ध्यान के रुक जाने पर भी) निरंतर अनित्यादि भावनाओं के चिंतन में तत्पर होते हैं।

'धर्म ध्यानी की लेश्याएँ'

होंति कम विसुद्धाओ, लेस्साओ पीद–पउम–सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगदस्स[93], तिव्व–मंदादि[94]–भेदाओ॥66॥

अन्वयार्थ– (धम्मज्झाण– उवगदस्स) धर्मध्यान में लगे हुए ध्याता के **(कम विसुद्धाओ)** क्रम से विशुद्ध **(पीद–पउम–सुक्काओ लेस्साओ)** पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ **(तिव्व मंदादि भेदाओ)** तीव्र मंद आदि भेदों से अनेक प्रकार की **(होंति)** होती हैं।

अर्थ– धर्म्य ध्यान में लगे हुए अर्थात् धर्म ध्यान को प्राप्त हुए ध्याता के तीव्र मंदादिक भेदों के लिए हुए क्रमशः विशुद्ध पीत, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं।।66।।

---

89. 'ज्झाणोवरमे' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 73।
90. 'परमो' इति पाठ. ध.पु. 13, पृ. 73।
91. 'हाएसु भवियचित्तो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ.73।
92. 'धम्मज्झाणे जिह व पुव्वं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ.73।
93. 'धम्मज्झाणोपगयस्स' इति पाठः।
94. मंदाइ' इति पाठः।

'धर्म ध्यानी के अंतरंग लिंग'

आगम उवएसाणा[95], णिसग्गओ[96] जं जिणप्पणीदाणं[97]।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं[98]॥67॥

अन्वयार्थ– (आगम–उवएस–आणा) आगम, उपदेश, जिनाज्ञा और **(णिसग्गओ)** निसर्ग के अनुसार **(जं)** जो **(जिणप्पणीदाणं)** जिन भगवान् के द्वारा प्रज्ञप्त/कहे गए **(भावाणं)** पदार्थों का **(सद्दहणं)** श्रद्धान होता है, **(तं धम्मज्जाणस्स)** वह धर्म ध्यान का **(लिंग)** लिंग है।

अर्थ– आगम, उपदेश, जिनाज्ञा निसर्ग के अनुसार आचरण करने वाले की जो जिन भगवान् के द्वारा प्रज्ञप्त/कहे गए पदार्थों का श्रद्धान होता है, उसको धर्मध्यान का लिंग अथवा परिचायक हेतु जानो।।67।।

'धर्मध्यानी के बाह्य लिंग'

जिण–साहु–गुणक्कित्तण[99] पसंसणा–विणय–दाण–संपण्णो[100]।
सुद[101] सीलसंजमरदो[102], धम्मज्झाणी मुणेदव्वो[103]॥68॥

अन्वयार्थ– (जिण साहु गुणक्कित्तण) जो जिन, साधु और उनके गुणों का कीर्तन करता हो, **(पसंसणा)** प्रशंसा करता हो, **(विणय)** विनय करता हो, **(दाण संपण्णो)** दान सम्पन्न हो **(सुद–सील–संजमरदो)** तथा श्रुत, शील और संयम में रत हो, **(धम्मज्झाणी)** उसे धर्म–ध्यानी **(मुणेदव्वो)** जानना चाहिए।

अर्थ– जो जिन, साधु और उनके गुणों का कीर्तन करता हो, प्रशंसा करता हो, विनय करता हो; दान सम्पन्न हो तथा श्रुत, शील और संयम में रत हो, उसे धर्म–ध्यानी समझना चाहिए।।68।।

'शुक्लध्यान के आलंबन'

अह खंति–मद्दवज्जव, मुत्तीओ[104] जिण–मदप्पहाणाओ।
आलंबणेहि जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहदि॥69॥

अन्वयार्थ– (खंति–मद्दव–अज्जव–मुत्तीओ) क्षांति/क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति (निर्लोभता) आदि; **(अह जिण मदप्पहाणाओ)** ये जिन मत में ध्यान के प्रधान आलंबन कहे गए हैं **(आलंबणेहि जेहिं)** जिनके आलंबनों के द्वारा साधु **(सुक्कज्झाणं समारुहदि)** शुक्ल ध्यान पर आरोहण करते हैं।

अर्थ– क्षांति/क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति (निर्लोभता); ये जिन मत में ध्यान के प्रधान आलंबन कहे गए हैं। इनके आलंबनों के द्वारा साधु शुक्ल ध्यान पर आरोहण करते हैं।।69।।

---

95. 'उवदेसाणा' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।
96. 'णिसग्गदो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।
97. 'जिणप्पणेयाणं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ.76।
98. 'तल्लिंग' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76
99. 'गुणुक्कित्तण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76
100. 'संपण्णा' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76
101. 'सुय' इति पाठः।
102. 'संजमरओ' इति पाठः।
103. 'मुणेयव्वा' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 76।
104. 'मुत्तियो' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 80।

'क्रमप्राप्त ध्यान का विकास'

तिहुयण विसयं कमसो, संखिविउ–मणो अणुम्हि छदुमत्थो।
झायदि सुणिप्पकंपो, झाणं अमणो जिणो होदि॥70॥

अन्वयार्थ– (**छदुमत्थो**) छद्मस्थ (**तिहुयण विसयं कमसो**) तीन लोक के विषय को क्रमशः (**संखिविउ**) संक्षिप्त करके (**मणो**) वह मन से (**अणुम्हि**) द्रव्य भाव परमाणु में (**झायदि सुणिप्पकंपो**) सुनिष्प्रकंप/स्थिर ध्यान लगता है (**झाणं**) वह शुक्लध्यान के द्वारा (**अमणो जिणो होदि**) मनरहित जिन हो जाता है।

अर्थ– छद्मस्थ तीन लोक के विषय को क्रम से संक्षिप्त करके वह मन से द्रव्य भाव परमाणु में सुनिष्प्रकंप/स्थिर, अचल ध्यान लगाता है, वह शुक्ल ध्यान के द्वारा मनरहित जिन अर्थात् सयोग केवली हो जाता है।।70।।

'शुक्लध्यान से मनोयोग निरोध के क्रम की प्ररूपणा'

जह सव्व सरीरगदं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके[105]।
तत्तो पुणोवणिज्जदि[106], पहाणझर[107] मंतजोएण॥71॥
तह बादरतणु[108] विसयं[109], जोगविसं झाण[110] मंतबलजुत्तो।
अणुभागम्मि[111] णिरुंभदि, अवणेदि[112] तदो वि जिणवेज्जो॥72॥

अन्वयार्थ– (**जह**) जिस प्रकार (**मंतेण**) मंत्र के द्वारा (**सव्व–सरीर–गदं**) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त (**विसं णिरुंभए डंके**) विष को डंक के स्थान में रोकते हैं (**पहाणझर मंत जोएण**) और प्रधान क्षरण करने वाले मंत्र के बल से/योग से (**तत्तो**) उसे (**पुणो अवणिज्जदि**) पुनः निकालते हैं। (**तह**) उसी प्रकार (**झाण–मंतबल जुत्तो**) ध्यान रूपी मन्त्र के बल से युक्त हुए (**जिणवेज्जो**) सयोग केवली जिन रूपी वैद्य (**बादर तणु विसयं**) बादर शरीर विषय रूपी (**जोग विंस**) योग विष को (**अणुभागम्मि णिरुंभदि**) पहले अनुभाग में रोकते हैं (**वि तदो अवणेदि**) और इसके पश्चात् उसे निकाल फेंकते हैं। अर्थात् अयोगी हो जाता है।

अर्थ– जिस प्रकार मंत्र के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त अर्थात् भिदे हुए विष को डंक के स्थान पर ही रोकते हैं, निरोध करते हैं और प्रधान क्षरण करने वाले मंत्र के बल से/योग से उसे पुनः निकालते हैं।।71।।

---

105. 'दंके' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87
106. 'वणिज्जइ' इति पाठः।
107. 'पहाणयर' वा 'पहाणयर' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87।
108. 'बायरतणु' इति पाठः।
109. 'वीसय' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87।
110. 'ज्झाण' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87।
111. 'अणुभावम्मि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87।
112. 'अवणेइ' इति पाठः।

उसी प्रकार ध्यान रूपी मन्त्र के बल से युक्त हुए सयोग केवली जिनरूपी वैद्य बादर शरीर विषय रूपी योग विष को पहले अनुभाग में रोकते हैं और इसके पश्चात् उसे निकाल फेंकते हैं अर्थात् अयोगी जिन हो जाते हैं।।72।।

'शुक्लध्यान से मनोयोग निरोध के क्रम की प्ररूपणा'

उस्सारिदिंधणभरो, जह परिहादि कमादो हुदासो य।
थोविंधणावसेसो, णिट्ठादि तदोवणीदो य।।73।।
तह विस–इंधण[113] हीणो, मणोहुदासो कमेण तणुयम्मि।
विस–इंधणे[114] णिरुंभदि, णिव्वादि[115] तदोवणीदो य।।74।।

अन्वयार्थ– **(जह)** जिस प्रकार **(उस्सारिद–इंधण भरो)** ईंधन के निकाल देने से **(हुदासो)** अग्नि **(कमादो)** क्रमशः **(परिहादि)** घट जाती है, हीन हो जाती है **(यत)** तथा **(थोव–इंधण–अवसेसो)** बचा हुआ स्तोक ईंधन **(तदो–अवणीदो)** वहाँ से हटा देने पर अग्नि **(णिट्ठादि)** समाप्त हो जाती है। **(य)** एवं **(तह)** वैसे ही **(विस–इंधण–हीणो)** विषरूपी विषय ईंधन से रहित **(मणो हुदासो)** मन रूपी हुताशन **(कमेण)** क्रमशः **(तणुयम्मि)** ह्रस्व हो जाने पर **(णिरुंभदि)** रुकती है **(य)** तथा **(विस–इंधणे)** विषय विष रूपी ईंधन को **(तदो–अवणीदो)** वहाँ से हटाए जाने पर **(णिव्वादि)** मन अग्नि शांत हो जाती है।

अर्थ– जिस प्रकार ईंधन के निकाल देने से अग्नि क्रमशः घट जाती है, हीन हो जाती है तथा बचा हुआ स्तोक, थोड़ा ईंधन वहाँ से हटा देने पर अग्नि समाप्त हो जाती है।।73।।

एवं वैसे ही/उसी प्रकार विष रूपी विषय ईंधन से रहित मन रूपी हुताशन क्रमशः ह्रस्व हो जाने पर रुकती है तथा वहाँ से विष रूपी विषय ईंधन हटाए जाने पर मन अग्नि शांत हो जाती है।।74।।

'शुक्लध्यान से योग निरोध का दृष्टान्त'

तोयमिव णालियाए, तत्ता य सभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा, जोगजलं झाणाणलेण।।75।।

अन्वयार्थ– **(य)** जिस प्रकार **(तोयं इव णालियाए)** नालिका **(क्षुद्रघट)** का जल **(वा)** अथवा **(सभायण–उदरत्थं तत्ता)** तपे हुए लोह पात्र के मध्य में स्थित जल वाष्प बनकर क्रम से **(परिहादि)** कम हो जाता है **(तहा)** उसी प्रकार **(कमेण)** क्रमशः **(जोग जलं)** योग रूपी जल को **(झाण–अणलेण)** ध्यान रूपी अग्नि से कम किया जाता है।

113. 'विसयिंधण' इति पाठः।
114. 'विसयिंधणे' इति पाठः।
115. 'णिट्टाइ' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 87।

अर्थ– जिस प्रकार (नालिका) मिट्टी के पात्र में स्थित जल क्रम से उत्तरोत्तर चूता रहता है अथवा अग्नि से सन्तप्त लोहे के पात्र में स्थित जल क्रम से जल वाष्प बनकर क्षीण होता जाता है, उसी प्रकार क्रमशः योग रूपी जल को ध्यान रूपी अग्नि से कम किया जाता है।

'वचन व काय निरोध से शैलेशी केवली'

एवं चिय वयजोगं, णिरुंभदि कमेण कायजोगं पि।
तो सेलेसोव्वथिरो, सेलेसी केवली होदि॥76॥

अन्वयार्थ– (एवं चिय) इसी प्रकार से ध्यान के बल से **(वयजोगं कायजोगं पि)** जो वचन योग और काय योग को भी **(कमेण)** क्रम से **(णिरुंभदि)** समाप्त करता है **(तो)** तो वह **(सेलेसोव्व)** सुमेरु पर्वत की भाँति **(थिरो)** निश्चल/अचल **(सेलेसी केवली होदि)** शील का ईश्वर/शैलेषी केवली हो जाता है।

अर्थ– इसी प्रकार से ध्यान के बल से जो वचन योग और काय योग को भी क्रमशः समाप्त करता है तो वह सुमेरु पर्वत की भाँति निश्चल, अचल शील का ईश्वर केवली हो जाता है।।76।।

'पृथक्त्व वितर्क विचार शुक्ल ध्यान'

उप्पादट्ठिदि–भंगादि, पज्जयाणं जमेग–वत्थुम्मि।
णाणा णयाणुसरणं, पुव्वगद–सुदाणुसारेण॥77॥
सवियार–मत्थ वंजण, जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होदि पुहुत्त विदक्कं, सवियार–मरागभावस्स॥78॥

अन्वयार्थ– (जं एग वत्थुम्मि) जो एक वस्तु में **(उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि)** उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य आदि **(पज्जयाणं)** पर्यायों का **(णाणाणयाणुसरणं)** अनेक नयों के आश्रय से जो **(पुव्वगद–सुद–अणुसारेण)** पूर्वगत, श्रुत के अनुसार चिंतन होता है वह **(पढमसुक्कं)** प्रथम शुक्ल ध्यान है। **(अत्थ–वंजण– जोग–अंतरओ तयं)** वह प्रथम शुक्ल ध्यान अर्थांतर, व्यंजनान्तर और योगान्तर इन तीनों की अपेक्षा **(सवियारं)** सविचार है। **(पुहुत्त विदक्कं सवियारं)** पृथक्त्व वितर्क सविचार नाम का यह प्रथम शुक्ल ध्यान **(अराग–भावस्स)** रागभाव से रहित–वीतराग छद्मस्थ के **(होदि)** होता है।

अर्थ– जो एक वस्तु में उत्पाद, स्थिति (ध्रौव्य) और भंग (व्यय) आदि अवस्थाओं का, पर्यायों का द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि अनेक नयों के आश्रय से जो पूर्वगत श्रुत के अनुसार चिंतन होता है वह प्रथम शुक्ल ध्यान माना गया है। वह प्रथम शुक्ल ध्यान अर्थांतर, व्यंजनांतर और योगांतर इन तीनों की अपेक्षा सविचार है। पृथक्त्व वितर्क सविचार नामक यह प्रथम शुक्लध्यान राग–भाव से रहित

वीतराग–छद्मस्थ के होता है।।78/78।।

'एकत्व–वितर्क शुक्लध्यान'

जं पुण सुणिप्पकंपं, णिवाय सरणप्पदीवमिव चित्तं।
उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि–याणमेगम्हि पज्जाए।।79।।
अवियार–मत्थ–वंजण, जोगंतरओ तयं विदियसुक्कं।
पुव्वगद–सुदालंबण, मेगत्त विदक्क–मवियारं।।80।।

अन्वयार्थ– (णिवाय–सरण–प्पदीवं इव) वायु से रहित घर के दीपक के समान **(जं पुण)** जो पुनः **(चित्तं)** चित्त को **(उप्पाद– ट्ठिदि–भंगादियाणं)** उत्पाद, स्थिति और भंग इनमें से किसी **(एगम्हि पज्जाए)** एक ही पर्याय में **(सुणिप्पकंपं)** अतिशय स्थिर होता है वह **(विदिय सुक्कं)** द्वितीय शुक्ल ध्यान है। **(अत्थ–वंजण–जोग– अंतरओ तयं)** वह द्वितीय शुक्ल ध्यान अर्थांतर, व्यंजनांतर और योगांतर इन तीनों के संक्रमण से रहित होने से **(अवियारं)** विचार रहित है। **(एगत्त–विदक्कं अवियारं)** एकत्व वितर्क अविचार नामक यह द्वितीय शुक्ल ध्यान **(पुव्वगद–सुद–आलंबणं)** पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेने वाला है।

अर्थ– वायु से रहित घर के दीपक के समान जो चित्त (अन्तःकरण) उत्पाद, व्यय और स्थिति इनमें से किसी एक ही पर्याय में अतिशय स्थिर होता है वह एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान है। वह द्वितीय शुक्ल ध्यान अर्थांतर, व्यंजनांतर और योगांतर इन तीनों के संक्रमण से रहित होने के कारण अविचार अर्थात् विचार रहित है। एकत्व वितर्क अविचार नामक यह द्वितीय शुक्ल ध्यान पूर्वगत श्रुत का आश्रय लेने वाला है।।79/80।।

'सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति शुक्लध्यान'

णिव्वाण–गमण–काले, केवलिणो वादणिरुद्ध[116] जोगस्स।
सुहुम किरियाणियट्टिं, तदियं तणु–काय–किरियस्स।।81।।

अन्वयार्थ– (णिव्वाण–गमण–काले) निर्वाण गमन के काल में **(केवलिणो)** सयोग केवली के **(वाद–णिरोध–जोगस्स)** बादर योग के निरोध के होने पर **(तणु–काय–किरियस्स)** सूक्ष्म काय की क्रिया से संयुक्त केवली के **(सुहुम किरिया अणियट्टिं)** सूक्ष्म क्रिया–अनिवर्ति नामक **(तदियं)** तृतीय शुक्ल ध्यान होता है।

अर्थ– निर्वाण गमन के निकट काल में सयोग केवली के बादर योग के निरोध हो जाने पर सूक्ष्म काय की क्रिया से संयुक्त केवली के सूक्ष्म क्रिया–अनिवर्ति नाम का तीसरा शुक्ल ध्यान होता है।।81।।

116. 'वादणिरद्ध' इति पाठः।

'व्युच्छिन्न–क्रिया–अप्रतिपाति शुक्लध्यान'

तस्सेव य सेलेसी–गदस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स।
वोच्छिण्ण–किरिय–मप्पडिवादी झाणं चरम–सुक्कं॥82॥

अन्वयार्थ– (तस्स एव य) तथा उसके ही **(सेलोव्व)** सुमेरु पर्वत की तरह **(णिप्पकंपस्स)** निष्प्रकंप योग हो जाने पर **(सेल–ईसीगदस्स)** उस शील के ईश्वर के **(वोच्छिण्ण–किरियं अप्पडिवादी)** व्युच्छिन्न– क्रिया–अप्रतिपाति नामक **(झाणं चरम सुक्कं)** चौथा शुक्ल ध्यान अयोग केवली की अवस्था में होता है।

अर्थ– तथा उसके ही सुमेरु पर्वत की तरह निष्प्रकंप योग हो जाने पर उस शील के ईश्वर के व्युच्छिन्न क्रिया–अप्रतिपाति नामक चौथा शुक्ल ध्यान अयोग केवली की अवस्था में होता है।।82।।

'शुक्लध्यान के स्वामी'

पढमं जोगे जोगेसु, वा मयं विदिय–मेग–जोगम्मि।[117]
तदियं च कायजोगे, सुक्कमजोगम्मि य चदुत्थं॥83॥

अन्वयार्थ– (पढमं) प्रथम शुक्ल ध्यान **(जोगे जोगेसु वा मयं)** एक योग में अथवा तीनों योगों में होता है। **(विदियं एगजोगम्मि)** दूसरा शुक्ल ध्यान मनोयोग की अवस्था में होता है **(च)** तथा **(तदियं)** तीसरा शुक्ल ध्यान **(कायजोगी)** काय योग की सूक्ष्म क्रिया के समय होता है **(य)** और **(चदुत्थं सुक्कं)** चौथा शुक्ल ध्यान **(अजोगम्मि)** योग रहित अवस्था में होता है।

अर्थ– प्रथम शुक्ल ध्यान एक योग में अथवा तीनों योगों में होता है, (किसी भी योग में संभव है) दूसरा शुक्ल ध्यान मनोयोग की अवस्था में होता है तथा तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग की सूक्ष्म क्रिया के समय होता है और चौथा शुक्ल ध्यान योग रहित अवस्था में अर्थात् अयोगी जिन के होता है।।83।।

'मन के अभाव में केवलियों के ध्यान'

जह छदुम थस्स मणो, झाणं मण्णादि सुणिच्चलो संतो।
तह केवलिणो कायो, सुणिच्चलो मण्णए झाणं॥84॥

अन्वयार्थ– (जह) जैसे **(छदुमत्थस्स मणो)** छद्मस्थ का मन **(सुणिच्चलो संतो)** सुनिश्चल विद्यमान हो जाने पर वह **(झाणं मण्णदि)** वह ध्यान मान लिया जाता है; **(तह)** वैसे ही **(केवलिणो)** केवली के **(कायो सुणिच्चलो)** काय सुनिश्चल होने पर **(मण्णए झाणं)** वह भी योग निरोध रूप ध्यान मान लिया जाता है।

117. 'जोगम्हि' इति पाठः।

अर्थ– जैसे छद्मस्थ का मन सुनिश्चल हो जाने पर वह ध्यान मान लिया जाता है वैसे केवली के काय निश्चल हो जाने पर वह भी योग निरोध रूप ध्यान मान लिया जाता है।।84।।

'पूर्व प्रयोगादि की अपेक्षा से अयोगी के ध्यान'

पुव्वप्पओगओ चिय, कम्म विणिज्जरण–हेदओ वा वि।
सद्दत्थ बहुत्ताओ, तहा जिणचंदागमओ य॥85॥
चित्ताभावे वि सया, सुहुमोवरद–किरियाए मण्णंति।
जीवोवओग सब्भावाओ भवत्थस्स झाणाणि॥86॥

अन्वयार्थ– (जीवोवओग–सब्भावाओ) जीवोपयोगरूप चित्त का सद्भाव होने से **(भवत्थस्स)** संसार में स्थित केवली के **(सुहुम–उवरद किरियाए चिय)** सूक्ष्म क्रिया के उपरत हो जाने पर **(वि)** या **(चित्त–अभावे–वि)** चित्त का अभाव हो जाने पर भी **(पुव्वप्पओगओ चिय)** सूक्ष्म क्रिया के उपरत हो जाने पर **(वि)** या **(चित्त–अभावे–वि)** चित्त का अभाव हो जाने पर भी **(पुव्वप्पओगओ चिय)** पूर्व प्रयोग की अपेक्षा से **(वा)** अथवा **(कम्म विणिज्जरण हेदओ)** कर्म निर्जरा का कारण होने से **(य)** अथवा **(सद्दत्थ बहुत्ताओ)** शब्दार्थ की बहुतता से **(तहा)** तथा **(जिणचंदागमओ)** जिनप्रज्ञप्त आगम के आश्रय से जिन **(सया)** सदा **(झाणाणि)** सूक्ष्म क्रिया–अनिवर्ति और व्युपरत क्रिया–अप्रतिपाति ध्यान **(मण्णंति)** माना जाता है।

अर्थ– जीवोपयोगरूप चित्त का सद्भाव होने से संसार में स्थित केवली के सूक्ष्म क्रिया के उपरत हो जाने पर या चित्त का अभाव हो जाने पर भी पूर्व प्रयोग की अपेक्षा से, कर्म निर्जरा का कारण होने से, शब्दार्थ की बहुतता से तथा जिन प्रज्ञप्त आगम के आश्रय से सदा सूक्ष्म क्रिया–अनिवर्ति और व्युपरत–क्रिया अप्रतिपाति ध्यान माना जाता है।।85/86।।

'शुक्लध्यान के असद्भाव में अनुप्रेक्षा'

सुक्कज्झाण सुभाविद–चित्तो चिंतेदि झाणविरमे वि।
णियय–मणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्त–संपण्णो॥87॥

अन्वयार्थ– (सुक्कज्झाण सुभाविद) शुक्ल ध्यान से भले प्रकार से संस्कारित **(चित्तो)** चित्त वाला **(वि)** भी **(झाण विरमे)** ध्यान के उपरत हो जाने पर **(चरित्त संपण्णो)** आचरण से संपन्न ध्याता। **(णिययं अणुप्पेहाओ चत्तारि)** निश्चित चार अनुप्रेक्षाओं का **(चिंतेदि)** चिंतन करता है।

अर्थ– शुक्ल ध्यान से अच्छी तरह से संस्कारित चित्त वाला भी ध्यान के उपरत हो जाने पर चारों आचरण से संपन्न ध्याता निश्चित ही चार अनुप्रेक्षाओं का चिंतन करता है।।87।।

'अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप'

आसव दारापाए, तहा संसारासुहाणुभावं च।
भव संताणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च॥88॥

अन्वयार्थ– (आसव–दार–अपाए) आस्रव द्वारों से होने वाले अपाय (अनर्थ) **(तह)** तथा **(संसार–असुह–अणुभावं)** संसार के असुखों का अथवा अशुभता का अनुभाव **(च)** और **(भव–संताणं– अणंतं)** जन्म–मरण रूप भव संतान का अनन्ता **(च)** तथा **(वत्थूणं विपरिणामं)** वस्तुओं का विपरिणाम अर्थात् विरुद्ध परिणाम **(नश्वरता);** इन चारों अनुप्रेक्षाओं का सदा चिंतन करना चाहिए।

अर्थ– आस्रव द्वारों से होने वाले अपाय (अनर्थ), संसार की अशुभरूपता या असुखरूपता (दुःखरूपता) का प्रभाव, जन्म–मरण रूप भव संतान (संसार सागर) की अनन्तता और चेतन अचेतन वस्तुओं का विरुद्ध परिणाम अर्थात् नश्वरता, ये वे चार अनुप्रेक्षाएँ हैं जिनका शुक्ल ध्यान से उपरत हुए जीव को सतत चिंतन करना चाहिए।।88।।

'शुक्लध्यान में लेश्याएँ'

सुक्काए लेस्साए, दो तदियं परम–सुक्क लेस्साए।
थिरया जिद–सेलेसं, लेस्सातीदं चरमसुक्कं॥89॥

अन्वयार्थ– (दो सुक्काए लेस्साए) प्रारंभ के दो शुक्ल ध्यान शुक्ल लेश्या वाले के होते हैं **(तदियं)** तृतीय शुक्ल ध्यान **(परम सुक्क लेस्साए)** परम शुक्ल लेश्या वाले के होता है तथा **(थिरया जिद सेलेसं)** स्थिरता से सुमेरु (शैलेष) को जीतने वाले **(लेस्सातीदं)** लेश्यातीत अयोगी भगवान् के **(चरम सुक्कं)** चौथा शुक्ल ध्यान होता है।

अर्थ– प्रारंभ के दो शुक्ल ध्यान शुक्ल लेश्या वाले के होते हैं, तीसरा शुक्ल ध्यान परम शुक्ल लेश्या वाले के होता है तथा स्थिरता से पर्वतों के स्वामी सुमेरु को, शैलेष को जीतने वाले लेश्यातीत अयोगी भगवान् के चौथा शुक्ल ध्यान होता है।।89।।

'शुक्लध्यान के लिंग'

अवहासम्मोह–विवेग, विसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंग्गिज्जदि जेहि मुणी, सुक्कज्झाणोवगद–चित्तो॥90॥

अन्वयार्थ– (अवहा) अव्यथा **(असम्मोह विवेग विसग्गा)** असम्मोह अर्थात् अमूढ़, विवेक तथा विसर्ग **(तस्स)** उसके **(लिंगाइं)** लिंग **(होंति)** होते हैं **(जेहि)** जिनके द्वारा **(सुक्कज्झाण उवगद**

चित्तो) शुक्ल ध्यान से युक्त चित्त वाला **(मुणी)** मुनी **(लिंग्गिज्जदि)** जाना जाता है। अर्थात् ये शुक्ल ध्यान के लिंग जानना चाहिए।

अर्थ– अव्यथा अर्थात् परीषह और उपसर्गों से न डरना, असम्मोह अर्थात् अमूढ़, विवेक तथा शरीर की ओर लक्ष्य का न जाना और वचन की ओर से उपयोग का हट जाना आदिक विसर्ग (कायोत्सर्ग विशेष) उस छद्मस्थ के शुक्ल ध्यान के लिंग होते हैं, जिनके द्वारा शुक्ल ध्यान से युक्त चित्त वाला मुनी जाना जाता है अर्थात् ये शुक्ल ध्यान के लिंग जानना चाहिए।।90।।

'शुक्लध्यान के लिंगों का स्वरूप'

चालिज्जदि बीहेदि य[118], धीरो ण परीसहोवसग्गेहिं[119]।
सुहुमेसु ण संमुज्झदि, भावेसु ण देवमायासु।।91।।
देह विवित्तं[120] पेच्छदि, अप्पाणं तह य सव्व संजोए।
देहो–वहिवोसग्गं, णिस्संगो सव्वदो कुणदि[121]।।92।।

अन्वयार्थ– (धीरो) वह धीर **(परीसह–उवसग्गेहिं)** परीषह और उपसर्गों से भी **(ण चालिज्जदि य बीहेदि)** न तो विचलित/चलायमान होता है और न तो डरता है। **(सुहुमेसु भावेसु ण)** वह न तो सूक्ष्म भावों में **(संमुज्झदि)** मुग्ध होता है **(ण देवमायासु)** और देव माया में भी मुग्ध नहीं होता है। **(देह विवित्तं पेच्छदि)** वह देह को अपने से भिन्न/विविक्त अनुभव करता है **(तह)** इसी प्रकार **(सव्व संजोए अप्पाणं)** सब प्रकार के संयोगों से अपनी आत्मा को भी भिन्न अनुभव करता है **(य)** तथा **(णिस्संगो सव्वदो)** निःसंग हुआ वह सब प्रकार के **(देह–उवहिवोसग्गं)** देह और उपधि का उत्सर्ग **(कुणदि)** करता है।

अर्थ– वह धीर शुक्लध्यानी उपसर्गों और परीषहों से भी न तो विचलित/चलायमान होता है और न तो डरता है। यह प्रथम अव्यथा लिंग का स्वरूप है। साथ ही वह न तो सूक्ष्म भावों में मुग्ध होता है अर्थात् सूक्ष्म भावों में व्यामोह को प्राप्त नहीं होता है और देवमाया में भी मुग्ध नहीं होता है, यह द्वितीय असम्मोह लिंग का स्वरूप है। वह देह को अपने से भिन्न अर्थात् विविक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार सब प्रकार के संयोगों से अपनी आत्मा को भी भिन्न अनुभव करता है। अर्थात् ज्ञायक को देखता रहता है– यह तृतीय विवेक लिंग का स्वरूप है। तथा निःसंग हुआ वह सब प्रकार के देह और उपधि का उत्सर्ग करता है, किसी को भी अपना नहीं मानता– यह चतुर्थ विसर्ग लिंग (व्युत्सर्ग) लिंग का स्वरूप जानना चाहिए।।91/92।।

118. 'व' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
119. 'परिस्सहोवसग्गेहि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
120. 'विचित्तं' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
121. 'कुणइ' इति पाठः।

'धर्म्यध्यान का फल'

होंति सुहासव–संवर, णिज्जरामर–सुहाइं विउलाइं[122]।
झाणवरस्स[123] फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स॥93॥

अन्वयार्थ– **(झाणवरस्स धम्मस्स)** उत्कृष्ट धर्म ध्यान के **(सुहासव संवर णिज्जरा)** शुभासव, संवर, निर्जरा और **(अमर सुहाइं)** देवों का सुख **(सुहाणुबंधीणि)** ये शुभानुबंधी **(विउलाइं)** विपुल **(फलाइं)** फल **(होंति)** होते हैं।

अर्थ– उत्कृष्ट धर्म ध्यान के शुभास्त्रव, संवर, निर्जरा और अमर के सुख आदिक; ये शुभानुबंधी विपुल फल होते हैं।।93।।

'शुक्लध्यानों का फल'

ते य विसेसेण सुहासवादओणुत्तरामरसुहं च।
दोण्णं सुक्काण फलं, परिणिव्वाणं परिल्लाणं॥94॥

अन्वयार्थ– **(ते)** धर्म ध्यान के फलभूत वे दोनों शुक्ल ध्यान **(विसेसेण)** उपशम श्रेणी की विशेषता की अपेक्षा से **(सुह–आसवादओ य)** शुभास्त्रव, संवर, निर्जरा और संसार की ह्रस्वता **(च)** तथा **(अणुत्तर–अमर–सुहं)** अनुत्तर देवों के सुख को देने वाले हैं। **(दोण्णं सुक्काण फलं परिणिव्वाणं परिल्लाणं)** अंत के दो शुक्ल ध्यानों का फल निर्वाण की प्राप्ति होना है।

अर्थ– धर्म ध्यान के फलभूत वे दोनों शुक्ल ध्यान उपशम श्रेणी की विशेषता की अपेक्षा से शुभास्त्रव, संवर, निर्जरा और संसार की ह्रस्वता तथा अनुत्तर देवों के सुख को देने वाले हैं। अंत के दो शुक्ल ध्यानों का फल निर्वाण की प्राप्ति होना है।।94।।

'धर्म्य–शुक्ल ध्यान का फल निर्वाण'

आसवदारा संसार–हेदवो जं ण धम्म–सुक्केसु।
संसार–कारणाइं ण, तदो धुवं धम्म–सुक्काइं॥95॥

अन्वयार्थ– **(जं)** जो **(आसवदारा)** आस्त्रव के द्वार **(संसार हेदवो)** वे संसार के कारण होते हैं **(ण धम्म–सुक्केसु)** वे धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान में चूँकि संभव नहीं हैं **(तदो)** इसलिए **(धुवं)** निश्चय रूप से **(धम्म सुक्काइं)** धर्म्य और शुक्ल ध्यान **(संसार कारणाइं ण)** संसार के कारण नहीं हैं।

अर्थ– जो आस्त्रव के द्वार संसार के कारण हैं, वे चूँकि धर्म और शुक्ल ध्यान में संभव नहीं है, इसलिए निश्चय रूप से धर्म्य और शुक्ल ध्यान संसार के कारण नहीं हैं, मुक्ति के कारण हैं।।95।।

122. 'सुहाविउद्धा' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 77। 123. 'झाणवत्थस्स' इति पाठः।

'ध्यान मोक्ष का हेतु'

संवर विणिज्जराओ, मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
झाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मोक्ख हेदू यं॥96॥

अन्वयार्थ– **(संवर विणिज्जराओ)** संवर और निर्जरा **(मोक्खस्स पहो)** मोक्ष का पथ है **(तवो पहो तासिं)** तथा तप से संवर और निर्जरा होती है **(च)** और **(झाणं तवस्स)** ध्यान तप का **(पहाण अंग)** प्रधान अंग है **(तो)** इसलिए **(यं)** जो **(मोक्ख हेदू)**तप है वह मोक्ष का हेतु है।

अर्थ– संवर और निर्जरा मोक्ष का पथ है तथा तप से संवर और निर्जरा होती है और ध्यान तप का प्रधान अंग है; इसलिए जो तप है वह मोक्ष का हेतु है।।96।।

'ध्यान अनल से कर्म कलंक का दहन'

अंबर लोह महीणं, कमसो जह मल कलंक पंकाणं।
सोज्झावणयण–सोसे, साहेंति जलाणलादिच्चा॥97॥
तह सोज्झादि–समत्था, जीववत्थ–लोह–मेदिणि–समाणं।
झाण–जलाणलसूरा, कम्ममल–कलंक–पंकाणं॥98॥

अन्वयार्थ– **(जह)** जैसे **(कमसो)** क्रमशः **(अंबर मल जल सोज्झ–अवणयण)** वस्त्र का मल जल से धुलता है/ शुद्ध होता है, **(लोह कलंक अणल सोसे)** लोहे का कलंक अग्नि से दूर होता है **(महीणं पंकाणं आदिच्चा साहेंति)** तथा पृथ्वी का कीचड़ सूर्य की किरणों से घटता है; **(तह)** वैसे ही **(जीव वत्थ लोह मेदिणि समाणं)** वस्त्र, लोह और पृथ्वी के समान जीव के **(समत्था)** सम्पूर्ण **(कम्म मल कलंक पंकाणं)** कर्म रूपी मल, कलंक और पंक की **(सोज्झादि)** शुद्धि आदि **(झाण–जल–अणल–सूरा)** ध्यान रूपी जल, अग्नि और आदित्य/ सूर्य से होती है।

अर्थ– जिस प्रकार जल वस्त्रगत मैल को धोकर उसे स्वच्छ कर देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप मैल को धोकर उसे शुद्ध कर देने वाला है, जिस प्रकार अग्नि लोहे के कलंक (जंग आदि) को दूर कर देती है उसी प्रकार ध्यान जीव से संबद्ध कर्म रूप कलंक को पृथक् कर देने वाला है तथा जिस प्रकार आदित्य पृथिवी के कीचड़ को सुखा देता है उसी प्रकार ध्यान जीव से संलग्न कर्मरूप कीचड़ को सुखा देने वाला है। अर्थात् प्रशस्त ध्यान के माध्यम से भावकर्म, द्रव्यकर्म तथा नोकर्म नष्ट हो जाते हैं, विलय को प्राप्त हो जाते हैं।।97/98।।

‘ध्यान नियम से कर्मक्षय का हेतु’

तावो सोसो भेदो, जोगाणं झाणओ जहा णिययं।
तह तावसोस–भेदा, कम्मस्स वि झाणिणो णियमा॥99॥

अन्वयार्थ– (**जहा**) जिस प्रकार (**णिययं**) नियमानुसार (**झाणओ**) ध्यान के द्वारा (**जोगाणं**) योगों का (**तावो**) तपन, (**सोसो**) शोषण (**भेदो**) और भेद होता है (**तह**) वैसे ही (**झाणिणो**) ध्यान के द्वारा ध्यानी के (**कम्मस्स वि**) कर्म का भी (**ताव सोस भेदा**) तप्त होना, सूखना और खिर जाना (**णियमा**) नियम से होता है।

अर्थ– जिस प्रकार नियमानुसार ध्यान के माध्यम से योगों का तपन, शोषण और भेद होता है, वैसे ही ध्यान के माध्यम से ध्यानी के कर्म का भी तप्त होना, सूखना और खिर जाना नियम से होता है।।99।।

‘कर्म रोगों का शमन ध्यान से’

जह रोगासय–समणं, विसोसण–विरेयणोसह–विहीहिं[124]।
तह कम्मामय–समणं, झाणाणसणादि–जोगेहिं[125]॥100॥

अन्वयार्थ– (**जह**) जिस प्रकार (**विसोसण–विरेयण**) विशोषण, विरेचन (**ओसह विहीहिं**) और औषध के विधान से (**रोग–आसय– समणं**) रोगाशय का शमन होता है (**तह**) उसी प्रकार (**झाण– अणसण–आदि**) ध्यान और अनशन आदि (**जोगेहिं**) योगों के निमित्त से (**कम्मामय समणं**) कर्मामय अर्थात् कर्म रूपी रोगों का भी शमन होता है।

अर्थ– जिस प्रकार विशोषण, विरेचन और औषधि की सेवन की विधि से रोगाशय का शमन होता है, उसी प्रकार ध्यान, अनशन आदि तपों के योगों के निमित्त से कर्मामयों का अर्थात् कर्म रूपी रोगों का भी शमन होता है।।100।।

‘ध्यानाग्नि से कर्मेंधन का दहन’

जह चिर–संचिद–मिंधण–मणलो पवणुग्गदो धुवं दहदि[126]।
तह कम्मिंधण–ममिदं, खणेण झाणाणलो दहदि॥101॥*

अन्वयार्थ– (**जह**) जिस प्रकार (**चिरसंचिदं**) चिर काल से संचित अपरिमित (**इंधणं**) ईंधन को (**अणलो पवण–उग्गदो**) पवन से आहत अग्नि (**धुवं दहदि**) नित्य ही क्षण भर में जला देती है, (**तह**) उसी प्रकार (**अमिदं**) अपरिमित (**कम्म–इंधणं**) कर्म रूपी ईंधन को (**झाण–अणलो**) ध्यान रूपी अग्नि (**खणेण दहदि**) क्षण मात्र में जला देती है।

124. ‘विहीहि’ इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82। 125. ‘ज्झाणाणसणादि जोगेहि इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
126. ‘मणलो पवणुग्गदो धुवं दहइ’ इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
*** यह गाथा कुछ हेरफेर के साथ तिलोयपण्णत्ती 9/18 में भी है।**

अर्थ– जिस प्रकार चिर काल से संचित अपरिमित विपुल ईंधन को पवन से आहत हुई अग्नि नित्य ही जला देती है अर्थात् जलाकर भस्मसात् कर देती है, उसी प्रकार अपरिमित अर्थात् अनेक पूर्व भवों से संचित कर्म रूपी ईंधन को ध्यान रूपी अग्नि क्षण मात्र में जला देती है अर्थात् भस्मसात् कर देती है।।101।।

'ध्यान से कर्ममेघों का विलीनिकरण'

जह वा घण–संघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणप्पवणोवहदा[127], तह कम्मघणा विलिज्जंति॥102॥

अन्वयार्थ– **(वा)** अथवा **(जह)** जिस प्रकार **(घण–संघाया)** मेघों का समुदाय **(पवण–आहया)** पवन से ताडित होकर **(खणेण)** क्षण मात्र में **(विलिज्जंति)** विलीन हो जाते हैं **(तह)** उसी प्रकार **(झाण–प्पवण–उवहदा)** ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर **(कम्मघणा)** कर्म रूपी मेघ समूह भी **(विलिज्जंति)** विलीन हो जाते हैं।

अर्थ– अथवा जिस प्रकार मेघों का समुदाय पवन से ताडित होकर अर्थात् आहत होकर क्षण मात्र में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार ध्यान रूपी पवन से उपहत होकर अर्थात् आहत होकर कर्म रूपी मेघ समूह भी विलीन हो जाते हैं।।102।।

'ध्यान के महात्म्य'

ण कसाय समुत्थेहिं य, बाहिज्जदि ण माणसेहिं दुक्खेहिं।
ईसा विसाय सोगादि, ए हि जाणोवगद चित्तो॥103॥[128]

अन्वयार्थ– **(झाण–उवगद चित्तो)** ध्यानोपगत चित्त वाला **(कसाय समुत्थेहिं य)** कषाय के समुत्थान से **(ण बाहिज्जदि)** बाधित नहीं होता है **(ण माणसेहिं दुक्खेहिं)** और न मानसिक दुक्खों से वह पीड़ित होता है **(ईसा विसया सोगादि ए हि)** इस तरह निश्चय से ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि से युक्त नहीं होता है।

अर्थ– ध्यानोपगत चित्त वाला अर्थात् ध्यान में अपने चित्त को लीन करने वाला कषाय के समुत्थान से उत्पन्न होने से बाधित नहीं होता है और न मानसिक दुःखों से वह पीड़ित होता है; इस तरह वह निश्चय ही ईर्ष्या, विषाद और शोक आदि से युक्त नहीं होता है।।103।।

---

127. 'ज्झाणप्पवणोवहया' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।

128. ''ण कसाय समुत्थेहि वि, बाहिज्जइ माणसेहि दुक्खेहि। ईसा विसाय सोगादि, एहि ज्झोणोवगय चित्तो।।' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।

'ध्यान के अन्य महात्म्य'

सीदादवादि[129] ए हि वि[130], सारीरेहिं[131] बहुप्पयारेहिं।
णो बाहिज्जदि साहूल झेयम्मि[132] सुणिच्चलो संतो॥104॥

अन्वयार्थ– (ए हि) इस प्रकार **(झेयम्मि)** ध्यान में **(सुणिच्चलो संतो)** अच्छी तरह से निश्चल अवस्थित हुआ **(साहू)** वह साधु **(सीय–आदव–आदि वि)** शीत और आतप आदिक **(बहुप्पयारेहिं)** बहुत प्रकार की **(सारीरेहिं)** शारीरिक बाधाओं के द्वारा **(णो बाहिज्जदि)** बाधित नहीं होता है।

अर्थ– इस प्रकार ध्यान में अच्छी तरह से निश्चल अवस्थित हुआ वह साधु शीत, आतप आदिक बहुत प्रकार की शारीरिक बाधाओं के द्वारा बाधित नहीं होता है अर्थात् उन्हें निराकुलता पूर्वक सहता है।।104।।

'उपसंहार में ध्यान का महत्त्व'

इय सव्व गुणाधाणं, दिट्ठादिट्ठ सुह साहणं झाणं।
सुपसत्थं सद्धेयं, णेयं झेयं च णिच्चं पि॥105॥

अन्वयार्थ– (इय) इस प्रकार **(झाणं)** वह ध्यान **(सव्व– गुण–आधाणं)** सर्व गुणों का आधान है **(दिट्ठ–अदिट्ठ सुह साहणं)** तथा दुष्ट और अदुष्ट सुखों का साधन है, **(सुपसत्थं)** भले प्रकार से प्रशस्त है **(सद्धेयं)** उसका श्रद्धान करना चाहिए **(णेयं च णिच्चं पि झेयं)** अतः उसे जानना चाहिए, नित्य ही उसको ध्याना चाहिए।

अर्थ– इस प्रकार वह ध्यान सर्व गुणों का आधान (आधारभूत) है, दृष्ट–अदृष्ट सुखों का साधन है तथा अतिशय प्रशस्त है उसका नित्य ही श्रद्धान करना चाहिए, उसे जानना चाहिए, उसको ध्याना चाहिए।।105।।

॥समत्तं झाणज्झयणं णाम पाहुडयं॥

---

129. 'सीयायवाइए इति पाठः।
130. 'एहि मि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
131. 'सारीरेहि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।
132. 'ज्झेयम्मि' इति पाठः ध.पु. 13, पृ. 82।

'पसत्थी'

णमामि अरहंताणं, सिद्धाणं सगण–गणहराणं च।
वंदामि तवस्सीणं, पुव्वधर–सुदकेवलीणं च॥1॥
मुणिणाह–पुप्फदंतं, उमासामिं समणकुंदकुंदं च।
मुणिणाहं भूदबलिं, जदि–वसह–देवं णमस्सामि॥2॥
वंदे समंतभद्दं, अकलंकं सुसमण–विज्जाणंदं।
णाय–गंथ–कत्तारं, भावसेण तिवेज्जायरियं॥3॥
महावीर–कित्तिं वा, विमलसूरिं विरागं अभिवंदे।
णमोत्थु–सासण मिट्ठं, विसुद्ध–सुगुरुं सदा वंदे॥4॥
मुणि कुंदकुंद रइदं, सुगंथ झाणज्झयण पाहुडयं।
णिव्वाण–पत्तणत्थं, सदद सदद मेव वंदे हं॥5॥
वर सुहोवओगत्थं, सुदणाणस्स उज्जोदणत्थं वा।
आदिच्च–सायरेणं, झाणज्झयण–अणुवाद–कदं॥6॥

॥ जयदु सव्वोदयसासणं ॥
॥ जयदु णमोत्थुसासणं ॥

'प्रशस्ति'

निखिल अरहंतों, सिद्धों के लिए तथा गण (संघ) सहित निखिल गणधरों के लिए नमस्कार करता हूँ। पूर्वों के धारी श्रुत केवलियों की तथा सम्पूर्ण श्रमणों की वंदना करता हूँ।।1।।

मुनियों के नाथ पुष्पदंत–भूतबली को श्रमणों में श्रेष्ठ कुंदकुंदाचार्य, उमास्वामी को तथा यतिवृषभ देव को नमस्कार करता हूँ।।2।।

न्यायग्रंथों के कर्त्ता समंतभद्राचार्य, भट्टाकलंकस्वामी, विद्यानंद महोदय तथा भावसेन त्रिवैद्याचार्य को वंदन करता हूँ।।3।।

आचार्य महावीर कीर्ति, विमलसागर और विराग सिंधु को वंदन करता हूँ। नमोस्तु शासन जिनको इष्ट है ऐसे श्रेष्ठ गुरु आचार्य विशुद्ध सागर को नमस्कार करता हूँ।।4।।

मुनियों में प्रवर आचार्य कुंद–कुंद देव प्रणीत झाणज्झयण–पाहुड (ध्यानाध्ययन प्राभृत) नामक श्रेष्ठ ग्रंथ को निर्वाण की उपलब्धि के लिए मैं नित्य ही, सतत ही नमस्कार करता हूँ।।5।।

श्रुतज्ञान के उद्योतनार्थ तथा उत्कृष्ट शुभोपयोग के लिए मुझ आदित्य मुनि के द्वारा झाणज्झयण–पाहुड का अनुवाद किया गया है।।6।।

॥ सर्वोदय शासन जयवंत हो ॥
॥ नमोस्तु शासन जयवंत हो ॥

"परिशिष्ट–1"
"गाथानुक्रमणिका"

	गाथा	गा.सं.		गाथा	गा.सं.
'अ'	अंतोमुहुत्त परदो	4	'क'	कालो विसोच्चिय	38
	अंतोमुहुत्त मेत्तं	3		कावोद–णील–काला	14
	अंबर–लोहमहीणं	97		कावोद–णील–काला	25
	अट्टं रुद्दं धम्मं	5		किं बहुणा सव्वं चिय	62
	अणुवकद–परा	49		कुणओ व पसत्थालं	12
	अण्णाण–मारुदेरिद	57	'ख'	खिदिवलय दीप	54
	अमणुणाणं सद्दादि	6	'च'	चालिज्जदि बीहेदि य	91
	अवहासम्मोह	90		चित्ताभावे वि सया	86
	अवियारमत्थ	80	'ज'	जं थिर मज्झवसाणं	2
	अह खंति–मद्दव	69		जं पुण सुणिप्पकंप	79
'आ'	आगम उवएसाणा	67		जच्चिय देहावत्था	39
	आरोढुं मुणि	60		जह चिर–संचिद	101
	आलंबणाणि वायण	42		जह छदुमत्थस्स	84
	आसव–दारापाए	88		जह रोगासय समणं	100
	आसव दारा संसार	95		जह वा घण–संघाया	102
'इ'	इट्ठाणं विसयादीण	8		जह सव्वसरीरगदं	71
	इय करण कारणा	23		जस्स य सकम्म	56
	इय सव्व गुणाधाणं	105		जिणदेसयादि लक्खण	52
'उ'	उप्पादट्ठिदि भंगादि	77		जिण साहु–गुण	68
	उवजोग–लक्खण	55		जो जत्थ समाहाणं	37
	उस्सारिदिंधणभरो	73	'झ'	झाएज्जो णिरवज्जं	46
'ए'	ए एच्चिय पुव्वाणं	64		झाणप्पडिवत्तिकमो	44
	एयं चदुव्विहे रागे	10		झाणस्स भावणाओ	28
	एयं चदुव्विहं राग	24		झाणोवरमे वि मुणी	65
	एवं चिय वय जोग	76			

	गाथा	गा.सं.
'ण'	ण कसाय–समुत्थेहिं	103
	णवकम्माणादाणं	33
	णाणे णिच्चब्भासो	31
	णिच्चं चेव जुवदि	35
	णिव्वाण गमण काले	81
	णिंददि य णिय कदाइं	16
'त'	तत्तो अणुपेहाओ	29
	तत्थ मदिदुब्बलेण य	47
	तत्थ य ति रदण	61
	तदविरद–देसविरद	18
	तस्स य संतरणसहं	58
	तस्साकंदण सोयण	15
	तस्सेव य सेलेसीगद	82
	तह तिव्वकोह लोहा	21
	तह बादरतणु	72
	तह विसइंधण–हीणो	74
	तह सूल सीसरोगादि	7
	तह सोज्झादि–समत्था	98
	तावो सोसो भेदो	99
	तिहुयण विसयं कमसो	70
	ते य विसेसेण सुहा	94
	तो देसकाल चेट्ठा	41
	तोयमिय णालियाए	75
'थ'	थिर कय जोगाणं	36
'द'	देविदं चक्कवट्टित्तणाइं	9
	देह विवित्तं पेच्छदि	92
'प'	पंचत्थिकाय मइयं	53
	पढमं जोगे जोगेसु	83

	गाथा	गा.सं.
	पयडिट्ठिदिपदेसाणुभाग	51
	परवसणं अहिणंददि	27
	पिसुणासब्भासब्भूद	20
	पुव्वकदब्भासो	30
	पुव्वप्पओगओ चिय	85
'म'	मज्झत्थस्स दु मुणिणो	11
'र'	राग–द्दोस–कसाया	50
	रागो दोसो मोहो	13
'ल'	लिंगाणि तस्स उस्सण्ण	26
'व'	विसयेहि समारोहादि	43
	वीरं सुक्कज्झाणग्गि	1
'स'	संकादि सल्लरहिदो	32
	संवरकदणिच्छिद्दं	59
	संवरविणिज्जराओ	96
	सत्तवह–वेह–बंधण	19
	सद्दादिविसय गिद्धो	17
	सद्दादि विसय साहण	22
	सवियार मत्थवंजण	78
	सव्वपमाद विरहिदा	63
	सव्वासु वट्टमाणा	40
	सीदादवादि एहि वि	104
	सुक्कज्झाण–सु भाविद	87
	सुक्काए लेस्साए	89
	सुणिउणमणादिणिहणं	45
	सुविदिदजगस्सहावो	34
'ह'	हेदु उदाहरणसंभवे	48
	होंति कम–विसुद्धाओ	66
	होंति सुहासव–संवर	93

'परिशिष्ट–2'

–क्षुल्लक श्री 105 सिद्धसागरजी कृत
झाणज्झयण पाहुड का दोहानुवाद।

शुक्ल ध्यान से कर्म हर, योगी–शरण सुजान।
महावीर को नमन कर, कहूँ अध्ययन–ध्यान॥1॥

जो थिर अध्यवसाय है, समझो उसको ध्यान।
जो चंचल वह चित्त है, मनन भावना जान॥2॥

अंतर्मुहूर्त मात्र जो, एक वस्तु गत स्वस्थ।
छद्मस्थों का ध्यान है, योग रोध जिन स्वस्थ॥3॥

अंतर्मुहूर्त अधिक मनन, ध्यानांतर भी ध्यान।
बहु वस्तुगत सुचिर भी, संक्रम हो संतान॥4॥

आर्त रौद्र धर्म्यरु शुकल, ध्यान अंत दो मुक्ति।
कारण है दो बंध के, करते है नहीं मुक्ति॥5॥

अप्रिय शब्दादिक विषय, वस्तु दोष युत जान।
धन वियोग चिंतन मिलन, कहा आर्त कुध्यान॥6॥

प्रशूल शिर रोगादिकी, पीडा–वियोग ध्यान।
उसका नहीं संयोग हो, गद–प्रतिकार–कुध्यान॥7॥

इष्ट विषय के भोग की, इच्छा है कुध्यान।
नहीं वियोग उसका चहे, चाहे भोग निदान॥8॥

देवेन्द्र चक्रवर्त्यादि की, गुण ऋद्धि की चाह।
अहमिन्द्रों का पद चहे, वह निदान भव राह॥9॥

इस प्रकार के चार विध, राग द्वेष कर मोह।
आर्तध्यान भव हेतु है, पशुगति को संदोह॥10॥

माध्यस्थ भाव से साधु के, वस्तु स्वभाव विचार।
हो सहिष्णु के शम लिए, होता सहज सुधार॥11॥

प्रशस्त आलंबन करे, तज के सब सावद्य।
निर्निदान वह धर्म्य हो, संयम तप निर्वद्य॥12॥

राग द्वेष मिथ्यात्व सह, कहे अधर्म मय जान।
संसार तरु के बीज हैं, तज इनको धरध्यान॥13॥

कापोत नील कृष्ण तथा, लेश्या क्लेश विशेष।
आर्तध्यान के सहित के, कर्मज प्रमुख विशेष॥14॥

आक्रंदन शोकादि जो, परिदेवन पिटनादि।
इष्टानिष्ट–वियोग यों, वेदन बहु इत्यादि॥15॥

निज कृति की निंदा करे, विस्मित करे प्रशंस।
चाहे राज्य विभूति को, दुर्जन में ज्यों कंस॥16॥

शब्द आदिके विषय में, गिद्ध धर्म से शून्य।
कर प्रमाद जिनमत विमुख, रौद्र ध्यान नहिं पुण्य॥17॥

वह अविरत से षष्ठलों, सर्व प्रमाद का मूल।
वर्जन करने योग है, यदि चाहो शिव मूल॥18॥

जीव का वध छेद तथा, बंधन दहना जान।
अंकण मारण क्रोध अति, अधर्म फल हैं मान॥19॥

पिशुन असभ्य असत्यवच, भूत–घात युत जान।
मायावी ठग पाप छुप, करे क्रोध अति मान॥20॥

तीव्र लोभ–वश घात–रत, अघ–रत जान अनार्य।
पर धन हरने में रहे, पर भव दुःख अवार्य॥21॥

शब्दादिक साधक विषय, धन रक्षण में लग्न।
सर्व अनिष्ट शंका करे, घातक कलुषित भग्न॥22॥

नौ प्रकार के विषय से, चार भेद युत रौद्र।
अविरत देशयति तथा, क्रोधी के हो रौद्र॥23॥

राग–द्वेष मोहादि वश, चार रौद्र के ध्यान।
नरक गति में पटकते, मिथ्यात्वी को जान॥24॥

कापोत नील कृष्णा तथा, तीव्र कषाय विशिष्ट।
रौद्र ध्यानी को नरक में, ले जाती है क्लिष्ट॥25॥

आसन्न बहुल मरणादि जो, आत्म हनन के दोष।
हिंसादिक आरंभ अति, नरक लिंग अघ कोश॥26॥

पर के व्यसनों को चहे, निर्घृण निर्दय जान।
निस्नुताप हो पाप में, हर्षित रौद्र महान॥27॥

ध्यान भावना देश तथा, कालासन से युक्त।
आलंबन क्रम के लिए, ध्येय ध्यानी प्रमुक्त॥28॥

अनुप्रेक्षा लेश्या तथा, लिंग फलादिक जान।
ध्यान करे मुनिराज जो, तन्मय शुक्ल सुजान॥29॥

पूर्व करे अभ्यास तो, प्रभावना से ध्यान।
धर्म्य तथा वैराग्य से, बने भावना जान॥30॥

पूर्व करे अभ्यास जो, वह मन सकता रोक।
करे विशुद्ध सु–ज्ञान को, निश्चल ध्यान अशोक॥31॥

शंकादिक तज शल्य को, प्रशमदिक–उपयुक्त।
दृष्टि शुद्ध सुध्यान में, दोष रहित मनसूक्त॥32॥

संयम भाव सु ध्यान से, हो जाता निज मग्न।
पापाश्रव रुकता अधिक, खिरे कर्म शुभ लग्न॥33॥

भव से जान स्वभाव को, होता जो निस्संग।
निर्भय रहे निराश जो, विराग निश्चल अंग॥34॥

पशु नपुंसक युवति जन, कुशील वर्जित जान।
विजन ध्यान–स्थान हैं, प्रथम ध्यान में मान॥35॥

गुप्ति गुप्त जब योग हों, हो सुस्थिर तब योग।
ध्यान में निश्चल मन रहे, ग्राम तुल्य वन जोग॥36॥

समाधान जिस भांति हो, मन वच तन थिरथांय।
प्राणी वध से रहित थल, ध्यान योग्य कहलाय॥37॥

सदा काल है ध्यान का, समाधान कर जोग।
निशा दिवस वेलादि का, नियम न सूत्र प्रयोग॥38॥

देह अवस्था स्वस्थ हो, बैठे खड़े या लेट।
वही ध्यान आसन कहा, ज्ञान रूप हो भेंट॥39॥

ढाई दीप दो सिन्धु से, उभय नग्न जनपाल।
क्षपित पाप संहरण से, सिद्ध हुए षट् काल॥40॥

देशकाल आसन नियम, ध्यान का नहीं सिद्धान्त।
समाधान हो योग का, त्यों कर पढ़ सिद्धान्त॥41॥

वाचन पृच्छा धोकना, चिंतन बारंबार।
सामायिक आवश्य षट्, ध्यानालंबन सार॥42॥

जैसे दृढ़ सुसीढी से, ऊपर चढ़े निःशंक।
वैसे सूत्रादिक परम, आलम्बन निःशंक॥43॥

ध्यान–प्राप्ति का क्रम यही, मनयुत यदि छद्मस्थ।
भव में केवलि के नहीं, भाव रूप मन स्वस्थ॥44॥

अनादि निधन जु जीव हित, सुन भावो सु अमूल्य।
अमित अजित अनुभाव वर, महा विषय जु अतुल्य॥45॥

जो आज्ञा जिनदेव की, उसको ध्या निर्दोष।
उक्ति निपुण जन से अगम, नय प्रमाण गत शेष॥46॥

अल्प बुद्धि गुरु के बिना, विद्या वही अगम्य।
ज्ञेय गहन ज्ञानावरण, बाधक कहे अरम्य॥47॥

हेतु दृष्टान्त आदि से, यदि न हो वह गम्य।
मत सर्वज्ञ न झूठ है, यों ध्यावे मति रम्य॥48॥

बदले की इच्छा रहित, अनुग्रह कर जिन आप्त।
रागद्वेष मोहादि जित, सत्य वचन को प्राप्त॥49॥

राग–द्वेष कषाय युत, आस्रव क्रिया अपाय।
पर भव में भी जानना, वर्ज्य सभी तज ध्याय॥50॥

चार प्रकार का बंध है, शुभ व अशुभ दो भेद।
अनुभाग ध्या कर्म का, कर्म विपाक प्रभेद॥51॥

जिन प्रणीत लक्षण तथा, आसन भेद विधान।
उत्पाद स्थिति भंग युत, सत् वस्तु को जान॥52॥

काल बिना पंचास्ति है, छह द्रव्यात्मक लोक।
अनाद्य निधन जिनोक्त है, तीन भेद युत लोक॥53॥

क्षिति वलय द्वीपोदधि, भवन नरक विमान।
संस्थान व्योम ज्यों रहें, नियत लोक ठिदिजान॥54॥

उपयोग लक्षण है कहा, अनादि अनिधन जीव।
शरीर लक्षण से पृथक्, कर्त्ता भोक्ताऽमूर्ति॥55॥

कर्म जनित भव सिन्धु है, कषाय रूप पाताल।
व्यसन मगर मोहक भंवर, भीम रूप भवव्याल॥56॥

अज्ञान पवन प्रेरित चले, योग वियोग तरंग।
भव सागर नहीं पार है, अशुभ रूप भव संग॥57॥

भव सागर से तरण को, दृढ़ श्रद्धान निबंध।
कर्णधार सद्ज्ञान है, संयम पोत अबंध॥58॥

संवरमय निच्छिद्र है, पवन चले जप वेग।
वैराग्य मार्ग कुश्रुत नहीं, क्षोभ रहित तप तेग॥59॥

मुनि वणिक उसमें चढ़ा, शील रत्न ले साथ।
शीघ्र वही निर्विघ्न हो, शिवपुर उसके हाथ॥60॥

वहाँ त्रिरत्न व्यवसाय है, निज में ही निर्वाह।
स्वाभाविक उपमा रहित, सौख्य अटूट प्रवाह॥61॥

अधिक कथन से लाभ क्या, जीवादिक विस्तार।
सर्व सुनय समुदाय से, ध्यान ज्ञान परिवार॥62॥

सर्व प्रमाद से रहित मुनि, क्षीण मोह उपशान्त।
ध्याता वस्तु स्वभाव के, जानों परम प्रशान्त॥63॥

इन दो के हैं पूर्वधर, परम संहनन युक्त।
शेष दो के स्वामी हैं, शुद्ध केवली उक्त॥64॥

अभ्यस्त ध्यानी भी मुनि, यदि ध्यान रुकि जाय।
नित्य अनित्य इत्यादि के, चिंतन में लग जाय॥65॥

क्रम से कही विशुद्ध हैं, शुक्ल पद्म पीतादि।
धर्म्य–ध्यान गत जीव के, तीव्र मंद इत्यादि॥66॥

आगम के उपदेश से, आज्ञा से निसर्ग।
भावों का श्रद्धान जो, धर्म्य लिंग वह वर्ग॥67॥

जिन साधु गुण–गान तथा, विनय प्रशंसा दान।
शील श्रुत संयम तथा, धर्म्य लिंग पहचान॥68॥

क्षांति मार्दव आर्जव मय, त्यागमयी जो मूर्ति।
जिनमत आलम्बन प्रमुख, शुक्ल ध्यान हो पूर्ति॥69॥

त्रिभुवन विषय क्रम से लघु, कर ध्यावे छद्मस्थ।
ध्यान सूक्ष्म निष्कंप हो, आप केवली स्वस्थ॥70॥

सर्व देह गत मंत्र से, विष संग्रह कर डंक।
अन्य मंत्र प्रधान से, झाड़े विष जो डंक॥71॥

वैसे त्रिभुवन विषय विष, बादर योग सु सूक्ष्म।
ध्यान मंत्र जल योग से, धो अनुभाग जु सूक्ष्म॥72॥

ज्यों–ज्यों बंधन ले घटा, अग्नि पड़ती प्रमंद।
ईंधन शेष न तब रहे, अग्नि बुझे वह मंद॥73॥

वैसे विषयेंधन घटे, विषय रहे वह ह्रस्व।
पर विषयेंधन से रहित, अग्नि बुझे वह ह्रस्व॥74॥

जैसे तप्त प्रणाली से, लोह पात्र जल ह्रस्व।
ध्यान अनल से उस तरह, योग मयी जल ह्रस्व॥75॥

ऐसे मन वच योग को, श्वास काय क्रम रोक।
शैल सम शीलेशी हो, उस केवली सुधोक॥76॥

स्थिति जनन विरोध युत, भेद सहित पर्याय।
एक वस्तु में विविध नय, पूर्व श्रुतानु ध्याय॥77॥

सविचार अर्थ व्यंजन तथा, योगांतर युत शुक्ल।
कहा पृथक्त्व वितर्क है, सविचार वही शुक्ल॥78॥

जो निष्कंप निर्वात सम, चित्त दीप निष्कंप।
सत् के भंगों से सहित, वह पर्याय अकंप॥79॥

अविचार अर्थ शब्द या, योगान्तर बिन जान।
एकत्व वितर्क पूर्वगत, शुक्ल दूसरा मान॥80॥

निर्वाण गमन के काल में, तेरहवें के अन्त।
सूक्ष्म योग तन का पतन, शुक्ल तीसरा संत॥81॥

चौदहवें में अयोग जिन, योग क्रिया नहीं ध्यान।
चौथा है वह शुक्ल ही, धरो जिनों का ध्यान॥82॥

तीन योग इक योग में, काय योग में सूक्ष्म।
योग क्रिया से रहित में, क्रम से चारों शुक्ल॥83॥

छद्मस्थों के निश्चल मन, होता जैसे ध्यान।
केवली के निश्चल तनु, माना वैसे ध्यान॥84॥

करे ध्यान अभ्यास तो, कर्म निर्जरा जान।
शब्द अर्थ वैपुल्य युत, जिन आगम से मान॥85॥

चित्त अभाव से निर्विषय, सूक्ष्म क्रियाच्युत जान।
पर से शून्य उपयोग भी, माना जाता ध्यान॥86॥

यदि श्रेणी से उतरता, यथाख्यात से साधु।
चारों संयम ध्या सके, अनुप्रेक्षा वह साधु॥87॥

आस्रव द्वारों के बिना, संसृति सुख नहीं जान।
भव संतान अनंत भी, वस्तु विकृति है मान॥88॥

शुक्ल ध्यान दो शुक्ल की, लेश्या में हो जान।
परम शुक्ल में तीसरा, तुर्य अलेश्या ध्यान॥89॥

अव्यथा असम्मोह वा, विवेक विसर्ग लिंग।
शुक्ल ध्यान के हैं कहे, लिंगित मित्र सुलिंग॥90॥

नहीं चलाया जाय जो, नहीं डरे जो धीर।
परिषह या उपसर्ग से, सुर से चिगे न वीर॥91॥

देह पृथक् निज को लखे, कोई क्यों न संयोग।
वह उपधि त्यागी सहज, पर में नहि उपयोग॥92॥

सुखानुबंधी धर्म्य का, फल संवर भी जान।
तथा निर्जरा अमर सुख, ह्रस्व करे भव मान॥93॥

पूर्व शुक्ल दो सास्रवी, अमर अनुत्तर सौख्य।
ह्रस्व करे संसार को, अन्तिम दो शिव सौख्य॥94॥

आस्रव कारण प्रमुख जो, धर्म्य शुक्ल नहीं जान।
अतः नहीं संसार के, कारण हैं वे मान॥95॥

संवर निर्जरा मुक्ति पथ, तप पथ उनका जान।
तप में ध्यान प्रधान है, मोक्ष हेतु वह मान॥96॥

वस्त्र लोह अरु भूमि के, मल कलंक अरु पंक।
जल अग्नि आदित्य से, प्रशुद्ध हों निःशंक॥97॥

वैसे जीव वस्त्रादि की, द्रव्यादि कर्म मल शुद्धि।
ध्यान अनल जल सूर्य से, होती यों धर बुद्धि॥98॥

ताप व शोषण भेद हो, योग ध्यान से जान।
वैसे ध्यान से कर्म त्रय, भावादिक का मान॥99॥

रोगादिक का शमन ज्यों, शोषण अगद जुलाय।
त्यों कर्मामय का शमन,ध्यान अनशन स्वाध्याय॥100॥

ज्यों चिर संचित दारु चय, अनल करे क्षण भस्म।
वैसे ध्यान अनल करे, शीघ्र कर्म को भस्म॥101॥

जैसे घनसंघात हो, पवनाहत क्षण नष्ट।
वैसे ध्यानमय पवन से, कर्ममेद्य क्षण नष्ट॥102॥

ध्यान सिद्धि से राग रिपु, दुःख विषाद न शोक।
ध्यानी को न सता सकें, चित्त–निरोध अशोक॥103॥

शीतातप बाधा नहीं, नहीं तन के हों कष्ट।
ध्येय में निश्चल मन लगा, अप्रमत्त नहिं नष्ट॥104॥

सब गुण का आधान है, दृष्ट अदृष्ट शुभ ध्यान।
सु प्रशस्त श्रद्धेय है, ज्ञेय ध्येय शिव ज्ञान॥105॥

'सिद्ध सिन्धु' अनुवाद यह, सब जन को सुखदाय।
पढ़े सुने समझे इसे, स्वर्ग मोक्ष फल पाय॥106॥

॥ इत्यलं ॥

परिशिष्ट–3

वीरं सुक्कज्झाणग्गि–दड्ढ कम्मिंधणं पणमिऊणं।
जोईसरं सरण्णं, झाणज्झयणं पवक्खामि॥1॥
जं थिर मज्झवसाणं, तं झाणं जं चलंतयं चित्तं।
तं होदि भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिंता॥2॥
अंतोमुहुत्त मेत्तं, चितावत्थाण–मेग–वत्थुम्मि।
छदुमत्थाणं झाणं, जोगणिरोहो जिणाणं तु॥3॥
अंतोमुहुत्त परदो, चिंता झाणंतरं वि होज्जा हि।
सुचिरं पि होज्ज बहुवत्थु, संकमे झाण–संताणं॥4॥
अट्टं रुद्दं धम्मं, सुक्क झाणाइं तत्थ अंताइं।
णिव्वाण साहणाइं, भव कारण मट्टरुद्दाइं॥5॥
अमणुण्णाणं सद्दादि, विसय वत्थूण दोस मइल्लस्स।
धणिगं वियोग चिंतण, मसंपओगाणुसरणं च॥6॥
तह सूल सीसरोगादी, वेयणाए विओगे पणिधाणं।
तदसंपओग चिंता, तप्पडियारा–उलमणस्स॥7॥
इट्ठाणं विसयादीण, वेयणाए य रायरत्तस्स।
अविओगज्झवसाणं, तह संजोगाभिलासो य॥8॥
देविंद चक्कवट्टित्तणाइं गुणरिद्धि पत्थण मइयं।
अहमं णिदाण–चिंतण, मण्णाणाणुगदमच्चंतं॥9॥
एयं चदुव्विहे रागे, दोसे मोहे किदस्स जीवस्स।
अट्टज्झाणं संसार–वद्धणं तिरिय गदिमूलं॥10॥
मज्छझत्थस्स दु मुणिणो, सकम्म परिणाम जणिदं मेयंति।
वत्थुस्सहाव चिंतण, परस्स सम्मं सहंतस्स॥11॥
कुणओ व पसत्थालंबणस्स पडियार–मप्प–सावज्जं।
तव संजम पडियारं, च सेवओ धम्म–मणिदाणं॥12॥

रागो दोसो मोहो, जेण य संसार–हेदवो भणिदा।
अट्टम्मि य ते तिण्णि वि, तो तं संसार तरुबीयं।।13।।
कावोद णील काला, लेस्साओणादि संकिलिट्ठाओ।
अट्टज्झाणोवगदस्स, कम्म परिणाम जणिदाओ।।14।।
तस्साकंदण सोयण, परिदेवण–ताडणादि लिंगाणि।
इट्ठाणिट्ठ–विओगा–विओग वेयणा णिमित्ताणि।।15।।
णिंददि य णिय कदाइं, पसंसदि सविंहओ विभूदीआ।
पत्थेदि तासु रज्जदि, तयज्जण परायणो होदि।।16।।
सद्दादि विसय गिद्धो, सद्धम्म परम्मुहो पमादपरो।
जिणमद मणवेक्खंतो, वट्टदि अट्टम्मि झाणम्मि।।17।।
तदविरद–देसविरद–प्पमाद पर–संजमाणुगं झाणं।
सव्वं पमादमूलं, वज्जेदव्वं जदि जणेणं।।18।।
सत्तवह वेह बंधण, दहणंकण मारणादि पणिहाणं।
अदि कोहग्गह घत्थं, णिग्घिण–मणसोहम–विवागं।।19।।
पिसुणासब्भा–सब्भूद–भूदघादादि वयण–पणिहाणं।
मायाविणादिसंधाण–परस्स पच्छण्ण पावस्स।।20।।
तह तिव्व कोह लोहा–उलस्स भूदोवघादण–मणज्जं।
परदव्व–हरण–चित्तं, परलोयावाय णिरवेक्खं।।21।।
सद्दादि विसय साहण, धण–सारक्खण–परायण–मणिट्ठं।
सव्वाभिसंकण–परोवघाद कलुसाउलं चित्तं।।22।।
इय करण कारणाणुमय–विसय–मणुचिंतणं चदुब्भेदं।
अविरइद–देससंजद–जणमण संसेविद मधण्णं।।23।।
एयं चदुव्विहं राग–दोस–मोहाउलस्स जीवस्स।
रुद्दज्झाणं संसार–वद्धणं णरय गदिमूलं।।24।।
कावोद–णील–काला–लेस्साओ तिव्व–संकलिट्ठाओ।
रुद्दज्झाणोवगदस्स, कम्म–परिणाम–जणिदाओ।।25।।
लिंगाणि तस्स उस्सण्ण–बहुल–णाणाविहारमरणदोसा।
तेसिं चिय हिंसादिसु, बाहिर करणोवउत्तस्स।।26।।

परवसणं अहिणंददि, णिरवेक्खो गिद्दयो णिरणुतावो।
हरिसिज्जदि कद पावो, रुद्दज्झाणोवगद चित्तो॥27॥

झाणस्स भावणाओ, देसं कालं तहासण विसेसं।
आलंबणं कमं झाइदव्वं च झेय—झायारो॥28॥

तत्तो अणुपेहाओ, लेस्सा लिंगं फलं च णाऊणं।
झाणं झाएज्ज मुणी, तग्गद जोगो तदो सुक्कं॥29॥

पुव्वकदब्भासो, भावणाहि झाणस्स जोग्गद—मुवेदि।
ताओ य णाण दंसण—चारित वेरग्ग जणिदाओ॥30॥

णाणे णिच्चब्भासो, कुणदि मणोवारणं विसुद्धिं च।
णाण गुण मुणिय सारो, तो झायदि णिच्चल मदीओ॥31॥

संकादि सल्ल रहिदो, पसमत्थेयादि गुणगणोवइयो।
होदि असम्मूढ मणो, दंसण सुद्धीए झाणम्मि॥32॥

णव कम्माणादाणं, पोराण वि णिज्जरा सुहादाणं।
चारित्त भावणाए, झाणमयत्तेण य समेदि॥33॥

सुविदिद जगस्सहावो, णिस्संगो णिब्भयो णिरासो य।
वेरग्ग भाविद—मणो, झाणम्मि सुणिच्चलो होदि॥34॥

णिच्चं चेव जुवदि पसु, णपुंसग कुसील वज्जिदं जदिणो।
ठाणं वियणं भणिदं, विसेसओ झाण कालम्मि॥35॥

थिर कय जोगाणं पुण, मुणीण झाणे सुणिच्चल—मणाणं।
गामम्मि जणाइण्णे, सुण्णेऽरण्णे य ण विसेसो॥36॥

जो जत्थ समाहाणं, होज्ज मणो वयण काय जोगाणं।
भूदोवघाद—रहिदो, सो देसो झाय—माणस्स॥37॥

कालो वि सोच्चिय जहिं, जोग—समाहाण—मुत्तमं लहदि।
ण उ दिवस णिसा वेलादि, णियमणं झाइयो समए॥38॥

जच्चिय देहावत्था, जदा ण झाणावरोहिणी होदि।
झाएज्जो तदवत्थो, ठिदो णिसण्णो णिवण्णो वा॥39॥

सव्वासु वट्टमाणा, मुणिणो जं देस—काल—चेट्ठासु।
वर केवलादि लाहं, पत्ता बहुसो खविय—पावा॥40॥

तो देस काल चेट्ठा, णियमो झाणस्स णत्थि समयम्मि।
जोगाण समाहाणं, जह होदि तहा पयइदव्वं।।41।।

आलंबणाणि वायण–पुच्छण–परियट्टणाऽणुपेहाओ।
सामाइयादियाइं, सद्धम्मावस्सयाइं च।।42।।

विसयेहि समारोहदि, दिढदव्वालंबणो जहा पुरिसो।
अत्तादिकयालंबो, तह झाणवरं समारुहदि।।43।।

झाणप्पडिवत्ति–कमो, होदि मणो जोग णिग्गहादीओ।
भवकाले केवलिणो, सेसाण जहा समाहीए।।44।।

सु–णिउण–मणादिणिहणं, भूदहिदं भूद–भावण–मणग्घं।
अमित–मजिदं महत्थं, महाणुभावं महाविसयं।।45।।

झाएज्जो णिरवज्जं, जिणाण–माणं जगप्पदीवाणं।
अणिउण जण दुण्णेयं, णय–भंगपमाण–गमगहणं।।46।।

तत्थ मदि दुब्बलेण य, तव्विज्जायरिय विरहिदो वा वि।
णेय गहणत्तणेण य, णाणावरणोदएणं च।।47।।

हेउ–उदाहरणासंभवे, य सइ सुट्ठु जं ण बुज्झेज्जो।
सव्वण्णु–मद–मवितहं, तहा विहं चिंतए मदिमं।।48।।

अणुवकद–पराणुग्गह, परायणा जं जिणा जगप्पवरा।
जिद राय–दोस–मोहा, ण अण्णहा वादिणो तेण।।49।।

राग–द्दोस कसायासवादि–किरियासु वट्टमाणाणं।
इह पर लोयापाए, झाएज्जो वज्ज–परिवज्जी।।50।।

पयडिट्ठिदिप्पदेसाऽणुभाग–भिण्णं सुहासुह–विहत्तं।
जोगाणुभाग–जणिदं, कम्म विवागं विचिंतेज्जो।।51।।

जिण देसयादि लक्खण, संठाणासण विहाणमाणाइं।
उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि, पज्जया णेय दव्वाणं।।52।।

पंचत्थिकाय–मइयं, लोग–मणादि–णिहणं–जिणक्खादं।
णामादि भेद विहिदं, तिविह–महोलोग–भागादिं।।53।।

खिदिवलय दीप सायर, णिरय विमाण भवणादि संहाणं।
वोमादि पडिट्ठाणं, णिययं लोगट्ठिदि विहाणं।।54।।

उवजोग लक्खणमणादि–णिहण–मत्थंतरं सरीरादो।
जीव–मरूविं कारिं, भोइं च सयस्स कम्मस्स॥55॥
जस्स य सकम्म जणिदं, जम्माइ जलं कसाय पायालं।
वसण सय सावयमयं, मोहावत्तं महाभीमं॥56॥
अण्णाण मारुदेरिद, संजोग–विजोग–वीचि–संताणं।
संसार सागर–मवार–पारमसुद्धं विचिंतेज्जा॥57॥
तस्स य संतरण–सहं, सम्मदंसण–सुणिबंधण–मणग्धं।
णाणमय–कण्णधारं, चरित्तमयं–महापोदं॥58॥
संवरकद–णिच्छिद्दं, तव पवणाइद्ध–जवण–दरवेगं।
वेरग्ग मग्ग पडियं, विसोत्तया वीचि–णिक्खोभं॥59॥
आरोदुं मुणि–वणिया, महग्घ सीलंग रदण परिपुण्णं।
जह तं णिव्वाणपुरं, सिग्घमविग्घेण पावेंति॥60॥
तत्थ य ति रदण विणियोग–मइय–मेगंतियं णिराबाहं।
साभाविदं णिरुवमं, जह सोक्खं अक्खय–मुवेंति॥61॥
किं बहुणा सव्वं चिय, जीवादि पदत्थ वित्थरो वेयं।
सव्व णय समूहमयं, झाएज्जो समय सब्भावं॥62॥
सव्व पमाद विरहिदा, मुणओ खीणोवसंतमोहा य।
झायारो णाणधणा, धम्मज्झाणस्स णिद्दिट्ठा॥63॥
ए एच्चिय पुव्वाणं, पुव्वधरा सुप्पसत्थ संघयणा।
दोण्णि सजोगाजोगा, सुक्काण पराण केवलिणो॥64॥
झाणोवरमे वि मुणी, णिच्च–मणिच्चादि चिंतणा–परओ।
होदि सुभाविद–चित्तो, धम्मज्झाणेण जो पुव्विं॥65॥
होंति कम विसुद्धाओ, लेस्साओ पीद–पउम–सुक्काओ।
धम्मज्झाणोवगदस्स, तिव्व मंदादि–भेदाओ॥66॥
आगम–उवएसाणा, णिसग्गओ जं जिणप्पणीदाणं।
भावाणं सद्दहणं, धम्मज्झाणस्स तं लिंगं॥67॥
जिण साहु गुणक्कित्तण, पसंसणा विणप–दाण–संपण्णो।
सुद सील–संजमरदो, धम्मज्झाणी मुणेदव्वो॥68॥

अह खंति मद्दवज्जव, मुत्तीओ जिण मदप्पहाणाओ।
आलंबणेहि जेहिं, सुक्कज्झाणं समारुहदि।।69।।

तिहुयण विसयं कमसो, संखिविउ–मणो अणुम्हि छदुमत्थो।
झायदि सुणिप्पकंपो, झाणं अमणो जिणो होदि।।70।।

जह सव्व सरीरगदं, मंतेण विसं णिरुंभए डंके।
तत्तो पुणोवणिज्जदि, पहाणझरमंत–जोएण।।71।।

तह बादर–तणु–विसयं, जोगविसं झाण–मंत–बलजुत्तो।
अणुभागम्मि णिरुंभदि, अवणेदि तदो वि जिणवेज्जो।।72।।

उस्साररिदिंधण–भरो, जह परिहादि कमादो हुदासो य।
थोविंधणावसेसो, णिव्वादि तदोवणीदो य।।73।।

तह विस–इंधण हीणो, मणो, हुदासो कमेण तणुयम्मि।
विस इंधणे णिरुंभदि, णिव्वादि तदोवणीदो य।।74।।

तोयमिव णालियाए, तत्ता य सभायणोदरत्थं वा।
परिहादि कमेण तहा, जोगजलं झाणाणलेण।।75।।

एवं चिय वय जोगं, णिरुंभदि कमेण कायजोगं पि।
तो सेलेसोव्व थिरो, सेलेसी केवली होदि।।76।।

उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि, पज्जयाणं जमेग वत्थुम्मि।
णाणा णयाणुसरणं, पुव्वगद–सुदाणुसारेण।।77।।

सवियार मत्थ वंजण, जोगंतरओ तयं पढमसुक्कं।
होदि पुहत्त–विदक्कं, सवियार–मराग–भावस्स।।78।।

जं पुण सुणिप्पकंपं, णिवाय सरणप्पईवमिव चित्तं।
उप्पाद–ट्ठिदि–भंगादि–याण–मेगम्हि पज्जाए।।79।।

अवियार मत्थ वंजण, जोगंतरओ तयं विदियसुक्कं।
पुव्वगद–सुदालंबण, मेगत्त विदक्क–मवियारं।।80।।

णिव्वाण गमण काले, केवलिणो वादणिरुद्ध जोगस्स।
सुहुम किरियाणियट्टिं, तदियं तणुकाय किरियस्स।।81।।

तस्सेव य सेलेसी–गदस्स सेलोव्व णिप्पकंपस्स।
वोच्छिण्ण किरिय–मप्पडिवादी झाणं चरम–सुक्कं।।82।।

पढमं जोगे जोगेसु, वामयं विदिय मेग जोगम्मि।
तदियं च कायजोगे, सुक्क–मजोगम्मि य चदुत्थं।।83।।

जह छदुमत्थस्स मणो, झाणं मण्णदि सुणिच्चलो संतो।
तह केवलिणो कायो, सुणिच्चलो मण्णए झाणं।।84।।

पुव्वप्पओगओ चिय, कम्म विणिज्जरण हेदओ वा वि।
सद्दत्थ–बहुत्ताओ, तहा जिणचंदागमाओ य।।85।।

चित्ताभावेविसया, सुहुमोवरद किरियाए मण्णंति।
जीवोवओग सब्भा–वाओभवत्थस्स झाणाणि।।86।।

सुक्कज्झाण सुभाविद, चित्तो चिंतेदि झाणविरमे वि।
णियय–मणुप्पेहाओ, चत्तारि चरित्त संपण्णो।।87।।

आसव दारापाए, तहा संसारासुहाणुभावं च।
भव संसाणमणंतं, वत्थूणं विपरिणामं च।।88।।

सुक्काए लेस्साए, दो तदियं परम–सुक्क लेस्साए।
थिरया जिद सेलेसं, लेस्सातीदं चरम सुक्कं च।।89।।

अवहासंमोह–विवेग, विसग्गा तस्स होंति लिंगाइं।
लिंग्गिज्जदि जेहि मुणील सुक्कज्झाणोवगद चित्तो।।90।।

चालिज्जदि बीहेदि य, धीरो ण परीसहोवसग्गेहिं।
सुहुमेसु ण संमुज्झदि, भावेसु ण देवमायासु।।91।।

देह विवित्तं पेच्छदि, अप्पाणं तह य सव्व संजोए।
देहो–वहिवोसग्गं, णिस्संगो सव्वदो कुणदि।।92।।

होंति सुहासव–संवर, णिज्जरामर–सुहाइं विउलाइं।
झाण–वरस्स फलाइं, सुहाणुबंधीणि धम्मस्स।।93।।

ते य विसेसेण सुहासवादओणुत्तरामर–सुहं च।
दोण्णं सुक्काण फलं, परिणिव्वाणं परिल्लाणं।।94।।

आसव दारा संसार–हेदवो जं ण धम्म–सुक्केसु।
संसार कारणाइं ण, तदो धुवं धम्म सुक्काइं।।95।।

संवर विणिज्जराओ, मोक्खस्स पहो तवो पहो तासिं।
जाणं च पहाणंगं, तवस्स तो मोक्ख हेदू यं।।96।।

अंबर लोह महीणं, कमसो जह मल कलंक पंकाणं।
सोज्झावणयण सोसे, साहेंति जलाणलादिच्चा।।97।।

तह सोज्झादि समत्था, जीववत्थ लोह मेदिणि समाणं।
झाण–जलाणल–सूरा, कम्ममल–कलंक–पंकाणं।।98।।

तावो सोसो भेदो, जोगाणं झाणओ जहा णिययं।
तह ताव सोस भेदा, कम्मस्स वि झाणिणो णियमा।।99।।

जह रोगासय समणं, विसोसण–विरेयणोसह–विहीहिं।
तह कम्मामय समणं, झाणाणसणादि जोगेहिं।।100।।

जह चिर संचिय–मिंधण–मणलो पवणुग्गदो धुवं दहदि।
तह कम्मिंधण ममिदं, खणेण झाणाणलो दहदि।।101।।

जह वा घण–संघाया, खणेण पवणाहया विलिज्जंति।
झाणप्पवणोवहदा, तह कम्मघणा विलिज्जंति।।102।।

ण कसाय समुत्थेहिं य, बाहिज्जदि ण माणसेहिं दुक्खेहिं।
ईसा–विसय–सोगादि, ए हि झाणोवगद चित्तो।।103।।

सीदादवादि ए हि वि, सारीरेहिं बहुप्पयारेहिं।
णो बाहिज्जदि साहू, झेयम्मि सुणिच्चलो संतो।।104।।

इय सव्व गुणाधाणं, दिट्ठादिट्ठ सुह साहणं झाणं।
सुपसत्थं सद्धेयं, णेयं झेयं च णिच्चं पि।।105।।

।इदि सिरि–आइरिय कोण्डकुण्ड सामिणा
अवर णाम पउमणंदिणा विरइयं
झाणज्झयण पाहुडं समत्तं।।

'परिशिष्ट–4'

'कतिपय परिभाषा–सुक्ति'

जं थिरमज्झवसाणं तं झाणं।।गा.2।।

अर्थ : जो स्थिर अध्यवसान है उसको ध्यान कहते हैं।

◆ ◆ ◆

जं चलंतयं चित्तं तं होदि भावणा वा अणुपेहा वा चिंता।।गा.2।।

अर्थ : जो अस्थिर चित्त है उसको ध्यानभावना, ध्यानचिंता अथवा अनुप्रेक्षा कहते हैं।

◆ ◆ ◆

भव कारण–मट्टरुद्दाइं।।गा.5।।

अर्थ : आर्त्त रौद्र ध्यान संसार परिभ्रमण के कारण हैं।

◆ ◆ ◆

अट्टज्झाणं संसार वद्धणं तिरिय गदिमूलं।।गा.10।।

अर्थ : आर्त्तध्यान संसार की वृद्धि तथा तिर्यंच गति का मूल है।

◆ ◆ ◆

रागो दोसो मोहो य संसार हेदवो भणिदा।।गा.13।।

अर्थ : राग–द्वेष और मिथ्यात्व संसार के हेतु कहे गए हैं।

◆ ◆ ◆

जिणमद–मणवेक्खंतो वट्टदि अट्टम्मि झाणम्मि।।गा.17।।

अर्थ : जो जिनमत को पसंद नहीं करता है वह आर्त्तध्यान में वर्तन करता है।

◆ ◆ ◆

सव्वं पमादमूलं वज्जेदव्वं जदिजणेणं।।गा.18।।

अर्थ : जो सम्पूर्ण प्रमाद का मूल है उसे श्रमणों को छोड़ देना चाहिए।

◆ ◆ ◆

रुद्दज्झाणं संसार–वद्धणं णरय गदिमूलं।।गा.24।।

अर्थ : रौद्रध्यान संसार का वर्धन करनेवाला तथा नरक गति का मूल है।

◆ ◆ ◆

णाणे णिच्चब्भासो कुणदि मणोवारणं विसुद्धिं च॥31॥

अर्थ : श्रुतज्ञान के निरंतर अभ्यास से पुरुष मन के निग्रह और विशुद्धि को प्राप्त होता है।

◆ ◆ ◆

जिद राय दोस मोहा ण अण्णहा वादिणो तेण॥गा.49॥

अर्थ : जिनदेव राग, द्वेष और मोह के विजेता हैं इसलिए वे अन्यथा वादी नहीं होते हैं।

◆ ◆ ◆

दोण्णं सुक्काण फलं परिणिव्वाणं परिल्लाणं॥गा.94॥

अर्थ : अंत के दो शुक्ल ध्यानों का फल निर्वाण है।

◆ ◆ ◆

संवर विणिज्जराओ मोक्खस्स पहो॥गा.96॥

अर्थ : संवर और निर्जरा मोक्ष का पथ है।

◆ ◆ ◆

तवो पहो तासिं॥गा.96॥

अर्थ : तप से संवर और निर्जरा होती है।

◆ ◆ ◆

झाणं च पहाणंगं तवस्स॥गा.96॥

अर्थ : ध्यान तप का प्रधान अंग है।

◆ ◆ ◆

कम्मामय समणं झाणाणसणादि जोगेहिं॥गा.100॥

अर्थ : ध्यान, अनशन आदि योगों के माध्यम से कर्माशय का शमन होता है।

◆ ◆ ◆

कम्मिंधण–ममिदं खणेण झाणाणलो दहदि॥गा.101॥

अर्थ : अपरिमित कर्म रूपी ईंधन को ध्यान अग्नि क्षण मात्र में जला देती है।

॥इत्यलं॥

'परिशिष्ट–5'
'ध्यानाध्ययन–शब्दकोश'
'संकेत सूची'

(पु)	पुल्लिंग	(स)	सर्वनाम
(न)	नपुंसक लिंग	(वि)	विशेषण
(स्त्री)	स्त्रीलिंग	(अ)	अव्यय
(अक)	अकर्मक क्रिया	(–)	समास संकेत
(सक)	सकर्मक क्रिया	(त्रि)	तीनों लिंग

'अ'

(अ) प्राकृत वर्णमाला का प्रथम अक्षर व स्वर। इसका उच्चारण स्थान कण्ठ है। व्यञ्जन उच्चारण इसके बिना नहीं हो सकता।

अंकण (न) अंकन करना।	(गा.19)
अंत (वि) अन्त्य, अन्तिम, चरम	(गा.5)
अंतोमुहुत्त (पु/न) अन्तर्मुहुर्त।	(गा.3)
अंबर (न) आकाश।	(गा.97)
अक्खय (वि) अक्षय, अविनाशी	(गा.61)
अजिद (वि) अजित, अपराजित	(गा.45)
अजोग (पु) अयोग केवली	(गा.64)
अजोग (पु) योग रहित अवस्था।	(गा.83)
अज्झवसाण (न) परिणाम, स्वभाव, अध्यवसान, चिंतन, विचार।	(गा.2)
अट्ट (न) आर्तध्यान।	(गा.5)
अट्टज्झाण (न) प्रथम ध्यान, आर्तध्यान।	(गा.10)
अट्टज्झाणोवगद (वि) आर्तध्यान के पास आया हुआ, आर्तध्यान से उपगत।	(गा.14)
अणंत (पु) अंत रहित, अनंत।	(गा. 88)
अणग्घ (वि) अनर्घ, अमूल्य, बहुमूल्य।	(गा.45)
अणज्ज (वि) अनार्य, दुष्ट म्लेच्छ।	(गा.21)
अणल (पु) अग्नि	(गा. 97)
अणवेक्ख (पु) अनपेक्ष।	(गा.17)

अणादि (वि) अनादि, नित्य।	(गा.14)
अणादि णिहण (पु/न) अनादि अनन्त, शाश्वत, नित्य।	(गा. 45)
अणिउण–जण (पु) अनिपुण जन, अनिपुण मनुष्य।	(गा.46)
अणिच्च (वि) अनित्य अनुप्रेक्षा	(गा.65)
अणिट्ठ (वि) अनिष्ट, अप्रीतिकर।	(गा.15)
अणिदाण (न) निदान रहित।	(गा. 12)
अणु (पु) परमाणु।	(गा.70)
अणुचिंतण (न) अनुचिंतन, पर्यालोचन, पुनर्मूल्यांकन।	(गा.23)
अणुत्तरामर–सुह (न) अनुत्तर विमान के देवों का सुख।	(गा.94)
अणुपेहा (स्त्री) अनुप्रेक्षा, भावना	(गा.2)
अणुभाग (पु) अनुभाग, कर्मफल विशेष, बंध का एक भेद।	(गा.51)
अणुवगद (वि) अनुग्रह रहित	(गा. 49)
अणुसरण (न) अनुचिंतन।	(गा.6)
अण्णहावादिण (वि) अन्यथा वादिन् अन्यथा विचारक।	(गा.49)
अण्णाण (न) अज्ञान, झूठा ज्ञान।	(गा.9)
अण्णाण–मारुदेरिद (वि) अज्ञानरूपी हवा से प्रेरित।	(गा.57)
अण्णाणाणुगद (वि) अज्ञान, अनुगत	(गा.9)
अत्तादियालंब (पु/न) आत्मा द्रव्य आदि का आलंबन/आश्रय।	(गा.43)
अत्थंतर (पु) अर्थांतर, पृथक्।	(गा.55)
अत्थ (पु) ध्येय, पदार्थ, वस्तु, अर्थ	(गा.78)
अदि–कोहग्गह–घत्थ (वि.) अतिक्रोध ग्रह से गृहीत/पकड़ा गया।	(गा.19)
अदिसंधाण (न) अत्यंत ठग।	(गा.20)
अधण्ण (वि) अधन्य, पुण्यहीन।	(गा.23)
अपाय (पु) अपाय, अनर्थ।	(गा.88)
अप्प–सावज्ज (न) अल्प सावद्य	(गा.12)
अप्पाण (पु) आत्मन् आत्मा।	(गा.92)
अमण (पु) मन रहित।	(गा.70)
अमणुण्ण (पु/न) अमनोज्ञ, अनिष्ट, असुन्दर।	(गा.6)
अमर– सुह (न) इंद्रों के सुख।	(गा.93)
अमित (वि) अपरिमित, अमृत।	(गा.45)
अयत्त (पु) बिना प्रयत्न	(गा.33)
अराग भाव (पु) राग रहित भाव।	(गा.78)

अरूवि (वि) अरूपि, अमूर्त	(गा. 55)
अवण (सक) अवन करना, निकालना	(गा.71/72)
अवणयण (न) हटाना, अपनयन।	(गा.97)
अवणीद (वि) हटाया गया।	(गा.73)
अवत्थाण (न) अवस्थान, स्थिति।	(गा.3)
अवहा (वि) अव्यथा।	(गा.90)
अवार–पार (वि) अपार–पार, रोकने में असमर्थ।	(गा.57)
अवसेस (पु) अवशेष, अवशिष्ट, बचा हुआ।	(गा.73)
अविग्घ (पु) अविघ्न, विघ्न रहित	(गा.60)
अवितह (वि) सत्यार्थ, यथेष्ट।	(गा.48)
अवितत्थ (वि) यथेष्ट, यथार्थरूप।	(गा.48)
अवियार (वि) विचार रहित।	(गा.80)
अवियोगज्झवसाण (न) वियोग न हो ऐसा अध्यवसान/चिंतन।	(गा.8)
अविरइद (स्त्री) अविरति, दुष्कर्मों में प्रवृत्ति, पाप कर्म से अनिवृत्ति।	(गा.23)
अविरद (वि) अविरत, पापकर्म से अनिवृत्ति	(गा.18)
अविसय (पु) विषय रहित।	(गा.86)
असंपओग चिंता (स्त्री) संयोग न होने की चिंता।	(गा.7)
असंपओगाणुसरण (न) संयोग अन्य को न हो ऐसा चिंतन।	(गा.6)
असंभव (वि) संभव रहित, निष्फल	(गा.48)
असम्मूढ–मण (पु.) अमुग्ध मन।	(गा.32)
असम्मोह (वि) अमूढ़, निरासक्त, प्रबुद्ध।	(गा.90)
असब्भ (वि) असभ्य, अशिष्ट।	(गा.20)
असब्भूदा (वि) असद्भूत, असत्यार्थ।	(गा.20)
असुद्ध (वि) अपवित्र, अशुद्ध	(गा.57)
अह (स) यह, ये, वह।	(गा.69)
अहम–विवाग (पु) अधर्म का विपाक, अधर्म का कर्म परिणाम।	(गा.19)
अहम्म (पु) अधर्म, पाप	(गा.12)
अहव (अ) अथवा, और, या; वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त अव्यय	(गा.2)
अहवा (अ) अथवा, और या	
अहिणंद (अक) अभिनंदन करना, चाहना	(गा.27)
अहोलोग (पु) अधोलोक।	(गा.53)

'आ'

आ– प्राकृत वर्णमाला का द्वितीय स्वर। दीर्घ 'आ'।	
आदिच्च (पु) आदित्य, सूर्य।	(गा.98)
आउल (वि) आकुल, व्याकुल, दुःखित।	(गा.21)
आउलमण (पु) आकुलमन।	(गा.7)
आकंदण (न) आक्रन्दन, रोना	(गा.15)
आगम (पु) सिद्धान्त, ज्ञान, शास्त्र	(गा.67)
आणा (स्त्री) आज्ञा, प्रमाण, आदेश	(गा.46)
आदि (वि) आदि, प्रधान	(गा.8)
आमरण दोस (पु) आमरण नामक दोष	(गा.26)
आरोढ (पु) आरोह, सवार।	(गा.60)
आलंबण (न) सहारा, आश्रय।	(गा.28)
आवस्सग (वि) आवश्यक, नित्यकर्म	(गा.42)
आसण (न) आधार, जगह।	(गा.52)
आसण (न) आसन, बैठक	(गा.28)
आसव (पु) आस्रव, कर्मद्वार।	(गा.50)
आसव–दार (पु) आस्रव का मार्ग।	(गा.88)

'इ'

इंधण (न) ईंधन।	(गा.73)
इट्ठ (न) इष्ट, वाञ्छित।	(गा.8/15)
इय (अ) इस प्रकार, यह, इस तरह, ऐसा, इत्यादि।	(गा.23/105)
इव (अ) तरह, सदृश, सम।	(गा.75)
इह पर–लोयापाय (पु) इस लोक और पर लोक से अनर्थ।	(गा.50)

'ई'

ई–प्राकृत वर्णमाला का चतुर्थ स्वर। इसका उच्चारण स्थान तालु है।	
ईसा (स्त्री) ईर्ष्या, रोश, द्रोह।	(गा.103)

'उ'

उ– प्राकृत वर्णमाला का पंचम वर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ।	
उ (अ) क्योंकि, और।	(गा.38)
उत्तम (वि) श्रेष्ठ, उत्कृष्ट, उत्तम	(गा.38)
उप्पाद–ठ्ठिदि–भंग (पु) उत्पाद–व्यय और ध्रौव्य।	(गा.52)
उव (सक) होना, प्राप्त करना।	(गा.30)

उवउत्त (वि) उपयुक्त, तर्कयुक्त	(गा.26)
उवएस (पु) उपदेश, प्रतिपादन।	(गा.67)
उवओग (पु) ज्ञान, विचार, चिंतन, उपयोग।	(गा.55)
उवघाद (वि) उपघात।	(गा.22)
उस्सण्ण (पु) उत्सन्न दोष	(गा.26)
उस्सार (सक) हटाना, दूर करना	(गा.73)
'ए'	
ए- प्राकृत वर्णमाला का सप्तम वर्ण उच्चारण स्थान कण्ठ व तालु।	
ए (अ) इस प्रकार, इस तरह	(गा.64/104)
एगंतिय (वि) एकान्तिक।	(गा.61)
एग (स) एक, संख्या विशेष	(गा.3)
एग जोग (पु) एक योग	(गा.83)
एगत्त विदक्क (न) एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान।	(गा.80)
एग वत्थु (न) एक वस्तु	(गा.3/73)
एच्चिय (अ) निश्चय ही।	(गा.64)
एयं (स) इस प्रकार, इस तरह	(गा.10)
एवं (अ) और, तथा, किन्तु।	(गा.76)
'ओ'	
ओ- प्राकृत वर्णमाला का अष्टम वर्ण। उच्चारण स्थान कण्ठ और ओष्ठ।	
ओसण्ण (वि) चारित्र भ्रष्ट।	(गा.26)
ओसह (न) औषध, दवा।	(गा.100)
'क'	
क- प्राकृत वर्ण माला का प्रथम व्यंजन। इसका उच्चारण स्थान कण्ठ।	
कद (वि) कृत, किया हुआ	(गा.16)
कद-पाव (न) कृत पाप।	(गा.27)
कम (पु) क्रम, परम्परा, परिपाटी।	(गा.28)
कम-विसुद्ध (वि) क्रम से विशुद्ध।	(गा.66)
कमसो (अ) क्रमशः, क्रम से, लगातार।	(गा.70)
कम्म-घण (पु) कर्म रूपी मेघ।	(गा. 102)
कम्म- परिणाम-जणिद (वि) कर्म परिणामों से उत्पादित।	(गा.14)
कम्म-मल-कलंक-पंक (पु/न) कर्म रूपी कलंक, मल और कीचड़।	(गा.90)
कम्म-विवाग (पु) कर्म का विपाक, कर्म का फल।	(गा.51)

कम्मामय–समण (न) कर्म रूपी रोगों का शमन।	(गा.100)
कम्मिंधण (न) कर्म रूपी ईंधन।	(गा.1)
कमादो (अ) क्रमशः, एक के बाद एक।	(गा.73)
करण–कारणाणुमय (वि) कृत–कारित और अनुमोदन।	(गा.23)
कलंक (पु) दोष, लाञ्छन।	(गा.97)
कलुसाउल (वि) कालुष और व्याकुल।	(गा.22)
कसाय (पु) कषाय, जो दुःख दे।	(गा.50)
कसाय–पायाल (न) कषाय रूपी पाताल।	(गा.56)
काय (पु) देह, शरीर, अंग।	(गा.84)
काय–जोग (पु) काय योग।	(गा.76)
कारि (वि.) कत्ता, करनेवाला।	(गा.55)
काल (पु) समय, अवस्था।	(गा.28)
काला (पु) कृष्ण लेश्या।	(गा.14/25)
कावोद (पु) कापोत लेश्या।	(गा.14/25)
किं (स) क्या।	(गा.62)
किद (वि) किया हुआ, विहित।	(गा.10)
किरिया (स्त्री) क्रिया, प्रयत्न, उपाय।	(गा.50)
कुणओ–(कुर्वतः) करता है।	(गा.12)
कुसील (न) चारित्र रहित, बुरी संगति।	(गा.35)
केवलि (वि) केवली, सर्ववेत्ता।	(गा.44)
'ख'	
ख– कवर्ग का दूसरा व्यंजन। उच्चारण स्थान कण्ठ है।	
खंति– मद्दवज्जव मुत्ति (स्त्री) क्षांति, मार्दव और आर्जव की मूर्ति।	(गा.69)
खण (न) क्षण, अवधि।	(गा.101)
खव (सक) नष्ट करना, क्षय करना।	(गा.40)
खिदिवलय (पु/न) पृथ्वी और वलय।	(गा.54)
खीणोवसंतमोह (न/पु) क्षीण और उपशांत मोह।	(गा.63)
'ग'	
ग– कवर्ग का तृतीय व्यञ्जन। उच्चारण स्थान कण्ठ है।	
गद (वि) प्रविष्ट, गया हुआ।	(गा.82)
गाम (पु) ग्राम, गाँव, वसति।	(गा.36)
गुणरिद्धि–पत्थण मइय (वि) गुण, रिद्धि को प्रार्थनामय।	(गा.9)

गुण–गण (पु.) गुणों का संघ, गुणों का समूह।	(गा.32)
'घ'	
घ– कवर्ग का चतुर्थ वर्ण। उच्चारण स्थान कण्ठ या जिह्वा मूल।	
घण संघाय (पु) मेघों का समुदाय।	(गा.102)
घायण (न) विनाशक।	(गा.21)
'च'	
च– च वर्ग का प्रथम वर्ण; उच्चारण स्थान तालु।	
च (अ) और, तथा, फिर।	(गा.6)
चक्कवट्टित्तण (पु) चक्रवर्तिन, नरेन्द्र।	(गा.9)
चत्तारि–चरित्र–संपण्ण (वि) चार आचरण से संपन्न।	(गा.87)
चदुत्थ (वि) चतुर्थ, चौथा।	(गा.83)
चदुब्भेद (पु/न) चतुर्भेद, चार प्रकार।	(गा.23)
चदुविह (वि) चतुर्विध, चार प्रकार।	(गा.10)
चरम–सुक्क (पु/न) चौथा शुक्ल ध्यान।	(गा.82)
चलंतय (वि) अस्थिर, चंचल।	(गा.2)
चारित्र (न) चारित्र, आचरण।	(गा.30)
चारित्र–भावणा (स्त्री) चारित्र की भावना।	(गा.33)
चाल (सक) चलना, हिलना।	(गा.91)
चिंत (सक) आत्म चिंतन करना।	(गा.48)
चिंतण (न) चिन्तन।	(गा.6)
चिंतणा–पर (वि) चिंतन में तत्पर।	(गा.65)
चिंता (स्त्री) पर्यालोचन, विचार।	(गा.2)
चित्त (न) हृदय, मन, चित्त।	(गा.2)
चित्ताभाव (पु) चित्त का अभाव।	(गा.86)
चिय (अ) ही, निश्चय से।	(गा.26)
चिर संचिय (वि) चिर काल से संचित	(गा.101)
चेट्ठा (स्त्री) चेष्टा, प्रयत्न।	(गा.40)
चेव (अ) ही, निश्चय ही।	(गा.35)
पादपूर्ति अव्यय।	
चारित्रमय महापोद (न) चारित्र से युक्त महानाव।	(गा.58)
'छ'	
छ– चवर्ग का द्वितीय वर्ण। उच्चारण स्थान तालु।	
छदुमत्थ (वि) सरागी, असर्वज्ञ	(गा.3)

'ज'

ज– चवर्ग का तीसरा वर्ण। उच्चारण स्थान तालु।	
जं (अ) जो, क्योंकि फिर।	(गा.2)
जं ण (पु) जो न, जो नहीं।	(गा.48)
जगप्पदीव (पु) जगत् प्रदीप।	(गा.46)
जगप्पवर (वि) जगत् में प्रवर/श्रेष्ठ।	(गा.49)
जच्चिय (अ) जैसे, जिस तरह।	(गा.39)
ज्झाण (न) ध्यान।	(गा.2)
जण–मण–संसेविद (वि) जनसमूह के मन द्वारा सेवित।	(गा.23)
जण परायण (पु) जनों में परायण	(गा.16)
जणाइण्ण (पु) जनाकीर्ण।	(गा.36)
जणिद (वि) उत्पादित, जनित।	(गा.30)
जत्थ (अ) जहाँ, जिसमें।	(गा.37)
जदि (पु) यति, मुनि, श्रमण।	(गा.61)
जदिजण (पु) यति जन।	(गा.18)
जम्म (पु/न) जन्म, उत्पत्ति, अद्भव।	(गा.56)
जया (अ) जब, जिस समय	(गा.39)
जल (न) जल, वारि, पानी।	(गा.56)
जवण–दरवेग (पु) जाप रूपी भारी वेग	(गा.59)
जस्स (स) जिसके, जिसका।	(गा.56)
जह (अ) जैसा, जिस तरह	(गा.41)
जहा (अ) जैसा, जिस तरह।	(गा.43)
जहिं (अ) जहाँ पर, जिसमें।	(गा.38)
जिण (पु) जिन, सर्वज्ञ, अर्हत्।	(गा.3)
जिणक्खाद (वि) जिनाख्यात, जिन प्रज्ञप्त।	(गा.53)
जिणचंदागम (पु) जिन रूपी चन्द्रमा का आगम।	(गा.85)
जिद–राय–दोस–मोह (पु) राग, द्वेष और मोह को जीतनेवाला।	(गा.49)
जिण–देसय (वि) जिनदेव द्वारा प्रतिपादित।	(गा.52)
जिणप्पणीद (वि) जिनेन्द्र के द्वारा प्रज्ञप्त/प्रणीत।	(गा.67)
जिणमद (न) जिनमत, जिनदर्शन।	(गा.17)
जिण–मद–प्पहाण (वि) जिनेन्द्र के मत में प्रधान।	(गा.69)

जिणवेज्ज (पु) जिन रूपी वैद्य।	(गा.72)
जिद सेलेस (पु) पर्वतों के राजा सुमेरु को जीतनेवाला।	(गा.89)
जीव (पु) जन्तु, प्राणी, आत्मा।	(गा.10)
जीव (पु) चेतना, क्षेत्रज, ज्ञानी।	(गा.55)
जीववत्थ (न) जीव रूपी वस्त्र।	(गा.98)
जीवादि–पदत्थ (न) जीवादि पदार्थ।	(गा.62)
जीवोवओग–सब्भाव (पु) जीव के उपयोग के सद्भाव।	(गा.86)
जुवदि (स्त्री) युवति, तरुणि।	(गा.35)
जेण (अ) इसलिए, जिससे कि।	(गा.13)
जेहिं (स) जिनके द्वारा।	(गा.69)
जेहि (स) जिसके द्वारा, जिससे।	(गा.90)
जो (अ/स) जो, जब तक	(गा.65/37)
जोईसर (पु) योगीश्वर।	(गा.1)
जोगंतर (वि) योगांतर।	(गा.78)
जोग (पु) योग, पराक्रम, जोड़।	(गा.41)
जोग–जल (न) योग रूपी जल।	(गा.75)
जोग–णिरोह (पु) योग का निरोध।	(गा.3)
जोग–विस (पु/न) योग रूपी विष।	(गा.72)
जोग–समाहाण (न) योगों का समाधान।	(गा.38)
जोग्गदा (वि) योग्यता।	(गा.30)
जोगाणुभाग जणिय (वि) योग और अनुभाग से उत्पादित।	(गा.51)

‘झ’

झ– चवर्ग का चतुर्थ वर्ण। इसका उच्चारण स्थान तालु।

झा (सक) ध्यान करना, चिंतन करना।	(गा.28/29)
झाइ (वि) ध्यायिन् चिंतन करनेवाला।	(गा.38)
झाण (न) ध्यान, चिंतन, विचार।	(गा.2)
झाणंतर (न) ध्यानांतर, ध्यानावांतर।	(गा.4)
झाण–काल (पु) ध्यान का काल।	(गा.35)
झाणज्झयण (न) ध्यानाध्ययन नामक प्राभृत ग्रंथ।	(गा.1)
झाण–जलाणलसूर (पु) ध्यान रूपी जल, अग्नि और सूर्य।	(गा.98)
झाण–प्पडिवत्ति–कम (पु) ध्यान की प्रतिपत्ति का क्रम।	(गा.44)

झाण–प्पवणोवहद (वि) ध्यान रूपी पवन से उपहत। (गा.102)

झाण–मंत बल जुत्त (वि) ध्यान रूपी मंत्र के बल से युक्त। (गा.72)

झाणमय (वि) ध्यानमय।

झाण–वर (वि) उत्कृष्ट ध्यान। (गा.43)

झाण–विराम (पु) ध्यान का विराम। (गा.87)

झाण–संताण (न/पु) ध्यान की संतान, ध्यान की संतति। (गा.4)

झाणाणल (पु) ध्यानाग्नि। (गा.75)

झाणाणसण (न) ध्यान और अनशन। (गा.100)

झाणावरोहिण (न) ध्यान में बाधक, ध्यान में अवरोहन। (गा.39)

झाणोवगद–चित्त (न) ध्यानोपगत चित्त, ध्यान में लीन चित्त। (गा.103)

झाणोवरम (वि) ध्यान के उपरम। (गा.65)

झाणी (वि) ध्यानी, ध्यान करनेवाला। (गा.99)

झाय (सक) ध्यान करना, चिंतन करना। (गा.31)

झायार (वि) ध्याता, ध्यान करनेवाला। (गा.28)

झेय (वि) ध्येय, ध्यान योग्य (गा.104/105/28)

'ट'

ट– टवर्ग का प्रथम वर्ण। उच्चारण स्थान मूर्द्धा है।

ट्ठिदि (स्त्री) स्थिति, विभाग। (गा.51)

ट्ठिय (वि) स्थित। (गा.39)

'ठ'

ठ– टवर्ग का द्वितीय व्यञ्जन। उच्चारण स्थान मूर्द्धा है।

ठिअ (वि) स्थित, अवस्थित। (गा.39)

ठाण (पु/न) स्थान, आश्रय। (गा.35)

'ड'

ड– टवर्ग का तृतीय व्यंजन। उच्चारण स्थान मूर्द्धा है।

डंक (पु) डंक, बिच्छु आदि का काँटा। (गा.71)

'ण'

ण– टवर्ग का पंचम वर्ण। इसका उच्चारण स्थान नासिक।

ण (अ) नहीं, मत। (गा.36)

णत्थि (अ) नहीं, निषेधार्थक अव्यय। (गा.41)

णपुंसग (न) नपुंसक। (गा.35)

णय भंग (पु) नय भंग। (गा.36)

णयाणुसरण (न) नयों का अनुसरण	(गा.77)
णरय गदि मूल (न) नरक गति का मूल।	(गा.24)
णवकम्माणादाण (न) नवीनकर्मों का ग्रहण।	(गा.33)
णा (सक) समझना, जानना।	(गा.29)
णाम (न) नाम।	(गा.53)
णाण–गुण (पु/न) ज्ञान गुण।	(गा.31)
णाणमय–कण्णधार (वि) ज्ञानमय कर्णधार।	(गा.58)
णाणमय–कण्णहार (पु) ज्ञानमय कर्णहार।	(गा.58)
णाण–धण (न) ज्ञान रूपी धन।	(गा.63)
णाणा (अ) नाना, अनेक, विविध।	(गा.77)
णाणावरणोदय (पु/न) ज्ञानावरण कर्म का उदय।	(गा.47)
णाणा विह (पु) नाना विध दोष।	(गा.26)
णालिया (स्त्री) नालिका, नाली।	(गा.75)
णिंद (सक) निंदा करना, दोष लगाना।	(गा.16)
णिक्खोभ (पु) हर्ष युक्त, निःक्षोभ।	(गा.59)
णिग्घिण–मणसा (–) निर्घृण मन से।	(गा.19)
णिच्चं (अ) नित्य, सदैव, हमेशा।	(गा.35)
णिच्चब्भास (न) नित्याभ्यास।	(गा.31)
णिच्चल–मदि (स्त्री) निश्चल मति।	(गा.31)
णिच्चल–मण (पु) निश्चल मन।	(गा.36)
णिज्जरा (स्त्री) निर्जरा, कर्म क्षय।	(गा.33)
णिट्ठा (अक) समाप्त होना, पूर्ण होना।	(गा.73)
णिद्दय (वि) करुणा रहित, निर्दय।	(गा.27)
णिदाण चिंतण (न) निदान चिंतन, आर्त्तध्यान।	(गा.9)
णिद्दिट्ठ (वि) निर्दिष्ट, कथित।	(गा.63)
णिप्पकंप (वि) निष्प्रकम्प, अचल।	(गा.82)
णिब्भय (वि) निर्भय, साहसी।	(गा.34)
णिमित्त (न) निमित्त, कारण हेतु।	(गा.15)
णिय (वि) निज, स्वकीय, आत्मीय	(गा.16)
णियम (पु) नियम, व्रत।	(गा.41)
णियमण (न) नियमन।	(गा.38)
णियय (पु) निश्चित नियत।	(गा.87)

णिरणुताव (वि) निरनुताप।	(गा.27)
णिरय (पु) नरक।	(गा.54)
णिरवज्ज (वि) निरवद्य, निर्दोष।	(गा.46)
णिरवेक्ख (वि) निरपेक्ष, अपेक्षा रहित।	(गा.27)
णिराबाह (वि) बाधा रहित, निराबाध।	(गा.61)
णिरास (वि) संसार से विमुख, निराश।	(गा.34)
णिरुंभ (सक) निरोध करना, रोकना।	(गा.71)
णिरुवम (वि) निरुपम, उपमा रहित।	(गा.61)
णिवण्ण (वि) बैठा हुआ।	(गा.39)
णिव्वा (अक) शांत होना, सिद्ध होना।	(गा.74)
णिव्वाण–गमण–काल (पु) निर्वाण गमन का काल।	(गा.81)
णिव्वाणपुर (न) निर्वाणपुर, मोक्ष का नगर, मुक्तिधाम।	(गा.60)
णिवाय–सरण (पु/न) निर्वातशरण।	(गा.79)
णिव्वाण–साहण (न) निर्वाण का साधन।	(गा.5)
णिसग्ग (वि) निसर्ग, स्वभाव।	(गा.67)
णिसण्ण (वि) उपविष्ट, स्थित।	(गा.39)
णिस्संग (वि) निःसंग, संग रहित।	(गा.93)
णिसा (स्त्री) निशा, रात्रि, रजनी।	(गा.38)
णील (पु) नील लेश्या।	(गा.14)
णेय (वि) ज्ञेय, जानने योग्य।	(गा.105)
णेय–गहणत्तण (वि) ज्ञेयों की गहनता, ज्ञेयों की गहराई।	(गा.47)
णेय दव्व (पु/न) ज्ञेय अर्थ	(गा.52)
णो (अ) नहीं।	(गा.104)

'त'

त– तवर्ग का प्रथम वर्ण। इसका उच्चारण स्थान दन्त है।

तं (स) उसको, इसलिए।	(गा.2)
तग्गद जोग (पु) उसको प्राप्त हुआ योग।	(गा.29)
तणु काय (पु) सूक्ष्म काय।	(गा.81)
तणुय (वि) कृश, हस्व, क्षीण।	(गा.74)
तत्त (अ) तपा हुआ, गरम किया गया।	(गा.75)
तत्तो (अ/स) उससे, इसके पश्चात्।	(गा.29)
तत्थ (अ) इसमें, वहाँ।	(गा.5)

त्थेय (वि) स्थिरता, स्थिति।	(गा.32)
तदवत्था (स्त्री) वह अवस्था।	(गा.39)
तदविरद (वि) वह अविरत।	(गा.18)
तदिय (वि) तृतीय, संख्या विशेष।	(गा.81)
तदो (अ) इसके बाद, फिर से।	(गा.29)
तय (न) तीन, संख्या विशेष।	(गा.78)
तव (पु/न) तप, तपश्चर्या।	(गा.12)
तवपवणाइद्ध (वि) तप रूपी पवन से बढ़ा हुआ।	(गा.59)
तव्विज्जायरिय (पु) उस विद्या के जाननेवाले आचार्य।	(गा.47)
तस्स (स) उसके लिए।	(गा.8)
तस्सेव (अ) उसके ही।	(गा.82)
तह (अ) तथा, और, य।	(गा.7)
तहा (अ) तथा, उस तरह।	(गा.41)
तहा विह (वि) उसी तरह से।	(गा.48)
ताओ (स) ये।	(गा.30)
ताव (पु) गर्म, उष्ण।	(गा.99)
तासिं (स) उसका, उनका।	(गा.96)
तासु (स) उसमें, उनमें।	(गा.16)
तिण्णि (त्रि) तीन।	(गा.13)
तिरिय–गदि–मूल (न) तिर्यंच गति का मूल।	(गा.9)
तिविह (वि) तीन प्रकार का।	(गा.53)
तिव्व कोह लोह (पु) तीव्र क्रोध और लोभ।	(गा.21)
तिव्व–मंद (वि) तीव्र और मंद।	(गा.66)
तिव्व संकलिट्ठ (वि) तीव्र, संक्लेशता, तीव्र क्लेश।	(गा.25)
तिहुयण (न) तीन लोक।	(गा.70)
तु (अ) किन्तु, लेकिन, और।	(गा.3)
ते (स) वे; वे सब।	(गा.13)
तेण (अ) इसलिए, इसकारण।	(गा.49)
तेसिं (स) उनका, उनकी।	(गा.26)
तो (अ) तत्त्वतः, क्योंकि।	(गा.13)
तोय (न) जल, वारि, नीर।	(गा.75)
ताडण (न) पीटना, ताडना।	(गा.15)

'थ'

थ– तवर्ग का द्वितीय अक्षर। इसका उच्चारण स्थान दन्त्य है।	
थिर–(वि) स्थिर, अकंप, निश्चल।	(गा.2)
थिर–कय जोग (पु) स्थिर काय योग।	(गा.36)
थिरदा (वि) स्थिरता।	(गा.89)
थोविंधण (न) स्तोक–ईंधन।	(गा.73)

'द'

द– तवर्ग का तृतीय अक्षर। इसका उच्चारण स्थान दन्त्य है।	
दंक (पु) डंक।	(गा.71)
दंसण (पु/न) दर्शन, श्रद्धान।	(गा.30)
दंसण–सुद्धि (वि) दर्शन शुद्धि।	(गा.32)
दड्ढ (वि) जला हुआ।	(गा.1)
दह (सक) जलाना, दहन करना।	(गा.10)
दहण (न) दहन, जलाना।	(गा.19)
दावाणल (पु) दावाग्नि, जंगल की आग।	(गा.101)
दिट्ठादिट्ठ (वि) दृष्ट और अदृष्ट।	(गा.105)
दिढ दव्वालंबण (न) दृढ़ द्रव्य का आलंबन।	(गा.43)
दिवस (पु/न) दिवस दिन।	(गा.38)
दीव (पु) द्वीप।	(गा.54)
दु (अ) और, तथा, पादपूर्ति अव्यय।	(गा.11)
दुक्ख (पु/न) दुःख, पीड़ा, कष्ट, वेदना।	(गा.103)
दुण्णेय (वि) दुर्ज्ञेय।	(गा.46)
दोण्णं (त्रि) दोनों के।	(गा.94)
देवमाया (स्त्री) देवमाया।	(गा.91)
देविंद (पु) इन्द्र देवों के अधिपति।	(गा.9)
देस (पु) देश।	(गा.28)
देस–काल–चेट्ठा (स्त्री) देश, काल और अवस्था।	(गा.41)
देसविरद (वि) देसविरत, देशव्रत।	(गा.18)
देससंजद (वि) देश संयमी।	(गा.23)
देह–विवित्त (वि) देह से विविक्त।	(गा.92)
देहावत्था (स्त्री) देह की अवस्था।	(गा.40)
देहोवहिवोसग्ग (पु) देह और उपधि का उत्सर्ग/त्याग।	(गा.92)

दो (त्रि) दो, संख्या विशेष।	(गा.89)
दोण्णि (त्रि) दो, दोनों।	(गा.64)
दोस (पु) द्वेष, अप्रीति।	(गा.10)
दोस-मइल्ल (वि) द्वेष रूपी मैल।	(गा.6)
'ध'	
ध- तवर्ग का चतुर्थ वर्ण। इसका उच्चारण स्थान दन्त है।	
धण-सारक्ख-परायण (न) धन के संरक्षण में परायण।	(गा.22)
धणिग (वि) धनिक, धनवार।	(गा.6)
धम्म (पु/न) धर्मध्यान।	(गा.93, 5)
धम्मज्झाण (न) धर्म्य ध्यान।	(गा.65)
धम्मज्झाणी (वि) धर्म्य ध्यानी।	(गा.68)
धम्मज्झाणोवगद (वि) धर्मध्यान से युक्त ध्याता।	
धम्म झाण (न) धर्म्यध्यान।	(गा.63)
धम्म-सुक्क (न) धर्म और शुक्ल ध्यान।	(गा.95)
धीर (वि) धीर, धैर्यवान, सहिष्णु।	(गा.91)
धुव (वि) निश्चय, शाश्वत।	(गा.95)
'प'	
प- पवर्ग का प्रथम वर्ण, इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।	
पंक (पु/न) पाप, कर्दम, कीचड़।	(गा.97)
पंचत्थिकाय-मइय-लोग (पु) पंचास्तिकाय मय लोक।	(गा.53)
प्पईवमिव (अ) प्रदीप की तरह।	(गा.79)
पच्छण्ण-पाव (न) गुप्त पाप	(गा.20)
पज्जय (पु) पर्याय।	(गा.52)
पज्जाय (पु) पर्याय।	(गा.79)
पढम-सुक्क (न) प्रथम शुक्ल ध्यान।	(गा.78)
पड (अक) पाना, प्राप्त गिरना।	(गा.59)
पडियार (पु) प्रतिकार, उपचार।	(गा.7)
पणम (सक) प्रणाम करना।	(गा.1)
पणिधाण (न) एकाग्र ध्यान।	(गा.7)
पणिहाण (न) एकाग्र ध्यान।	(गा.19)
पत्त (वि) प्राप्त हुआ, मिला हुआ।	(गा.40)
पत्थ (सक) प्रार्थना करना, चाहना।	(गा.16)

पत्थण मइय (वि) प्रार्थना से युक्त।	(गा.9)
पदिट्ठाण (न) प्रतिष्ठान।	(गा.54)
पदेश (पु) प्रदेश बंध।	(गा.52)
पमाण–गमगहण (वि) प्रमाण गम से गहन/दुर्भेद्य	(गा.46)
प्पमाद (पु) प्रमाद, आलस्य।	(गा.18)
पमाद मूल (न) प्रमाद का मूल।	(गा.18)
पमादपर (वि) प्रमाद से युक्त।	(गा.17)
पय (सक) प्रवृत्ति करना।	(गा.41)
पयडि (स्त्री) प्रकृति बंध।	(गा.51)
पर (वि) सहित, युक्त	(गा.64/20)
पर (वि) इतर, अन्य	(गा.94)
परदव्व–हरण (न) पर द्रव्य का हरण।	(गा.21)
परदो (परतः) पश्चात्।	(गा.4)
परम–सुक्क लेस्सा (स्त्री) परम शुक्ल लेश्या।	(गा.89)
परलोयावाय–णिरवेक्ख (वि) परलोक में अनर्थ की परवाह न करना।	(गा.21)
परवसण (न) पर की विपदा।	(गा.27)
पराणुग्गह–परायण (न) पर के अनुग्रह में परायण।	(गा.49)
परिणिव्वाण (न) परिनिर्वाण, मुक्ति।	(गा.94)
परिदेवण (न) विलाप, रुदन।	(गा.15)
परियट्टण (न) पाठ करना।	(गा.43)
परिल्ल (वि) पूर्ववर्ती, अग्रगामी।	
परिहा (अंक) हीन होना, कम होना।	(गा.73)
परीसहोवसग्ग (पु) परीषह और उपसर्ग।	(गा.91)
पवक्ख (सक) प्रतिपादित।	(गा.1)
पवणोवहद (वि) पवन से उपहत।	(गा.102)
पसंस (सक) प्रशंसा करना।	(गा.16)
पसंसणा (स्त्री) प्रशंसना, स्तुति।	(गा.68)
पसत्थालंबण (न) प्रशस्त आलंबन।	(गा.12)
पसम (पु) प्रशम, शान्त।	(गा.32)
पसु (पु) पशु, जानवर।	(गा.35)
पह (पु) पथ, मार्ग, रास्ता।	(गा.96)

पहाणंगं (न) प्रधान अंग।	(गा.96)
पहाण–झर (पु) प्रदान क्षरण।	(गा.71)
पाव (सक) पाना, प्राप्त करना।	(गा.60)
पाव (पु/न) पाव, दुष्प्रवृत्ति।	(गा.40)
पि (अ) भी, निश्चय ही।	(गा.4)
पिसुण (पु) निंदक, चुगलखोर।	(गा.20)
पीद–पउम–सुक्क (पु) पीत, पद्म और शुक्ल लेश्या।	(गा.66)
पुच्छणा (स्त्री) पृच्छना, प्रश्न।	(गा.42)
पुण (अ) किन्तु, तथा, पुनः	(गा.36)
पुणो (अ) पुनः फिर।	(गा.71)
पुरिस (पु) पुरुष, जीव	(गा.43)
पुव्व (वि) पूर्व, पहले।	(गा.64)
पुव्वकदब्भास (पु) पूर्व कृत अभ्यास।	(गा.30)
पुव्वगद–सुदाणुसार (पु) पूर्व गत श्रुत के अनुसार।	(गा.77)
पुव्वगद–सुदालंबण (न) पूर्वगत श्रुत का आलंबन।	(गा.80)
पुव्व धर (पु) पूर्वधर, पूर्वों का ज्ञाता।	(गा.64)
पुव्वप्पओग (पु) पूर्व उपयोग युक्त।	(गा.89)
पुव्विं (अ) पूर्व में।	(गा.65)
पुहुत्त–विदक्क (न) पृथक्त्व वितर्क शुक्ल ध्यान, प्रथम शुक्ल, ध्यान।	(गा.78)
पेच्छ (सक) अनुभव करना।	(गा.92)
पोराण (न) पुरातन, प्राचीन।	(गा.33)
'फ'	
फ– पवर्ग का द्वितीय वर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।	
फल (पु/न) परिणाम, लाभ।	(गा.29)
'ब'	
ब– पवर्ग का तृतीय वर्ण। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।	
बंधण (न) बांधना, बंधन।	(गा.19)
बहु (वि) बहुत।	(गा.62)
बहुत्ता (अ) बहुलता।	(गा.85)
बहुप्पयार (पु) बहुत प्रकार।	(गा.104)
बहुल (पु) बहुल दोष।	(गा.26)

बहुवत्थु (न) बहुत सी वस्तु।	(गा.4)
बहुसो (अ) अनेक बार, बहुशः।	(गा.40)
बादर तणु (न) बादर शरीर।	(गा.72)
बाह (सक) बाधित करना।	(गा.103)
बाहिर कारण (न) बाहिर कारण।	(गा.26)
बीह (अक) डरना, भय करना।	(गा.91)
बुज्झ (सक) जानना, समझना।	(गा.48)

'भ'

भ– पवर्ग का चतुर्थ वर्ण है। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।

भणिद (वि) कहा गया, कथित।	(गा.12)
भव–कारण (न) संसार का कारण।	(गा.5)
भवकाल (पु) भवकाल।	(गा.44)
भवत्थ (वि) संसार में स्थित।	(गा.86)
भवण (न) भवन, गृह, स्थान।	(गा.54)
भव संताण (पु) संसार संतान, संसार संतति।	(गा.88)
भाग (पु) भाग, अंश, हिस्सा।	(गा.53)
भाव (पु) पदार्थ, अर्थ, वस्तु।	(गा.67)
भाव (पु) परिणाम, स्वभाव।	(गा.91)
भावणा (स्त्री) चिंतन, अनुप्रेक्षा।	(गा.2)
भिण्ण (वि) पृथक्–पृथक्।	(गा.53)
भूद (पु) प्राणि, जीव, जंतु, ज्ञानी।	(गा.21)
भूदघादण (न) प्राणियों का विनाशक।	(गा.20)
भूद–भावण (न) जीव के द्वारा सेवित।	(गा.45)
भोइ (वि) भोगने वाला, भोगिन।	(गा.55)
भूदहिद (न) जीवों का कल्याण।	(गा.45)
भूदोवघाद रहिद (वि) प्राणि वध से रहित।	(गा.37)
भेद (पु/न) भेद, प्रकार।	(गा.99)
भेद (सक) भेदना, प्राप्त करना।	(गा.11)

'म'

म– पवर्ग का अंतिम वर्ण है। इसका उच्चारण स्थान ओष्ठ है।

मंत (पु/न) मंत्र, जाप।	(गा.71)
मग्ग (पु) मार्ग, पथ, रास्ता।	(गा.59)

मज्झत्थ (वि) माध्यस्थ।	(गा.11)
मण (पु/न) मन	(गा.70)
मणोजोग–णिग्गह (पु) मनोयोग का निग्रह।	(गा.44)
मणो–वयण–काय–जोग (पु) मन, वचन और काय योग।	(गा.37)
मणोवारण (न) मन का निग्रह।	(गा.31)
मण्ण (सक) मानना, जानना।	(गा.84)
मदि (स्त्री) मति, बुद्धि, मेधा।	(गा.48)
मदि–दुब्बल (वि) मति की दुर्बलता।	(गा.47)
मल (पु/न) मल, कीचड़, मैल।	(गा.97)
महत्थ (वि) महान्, अर्थ, श्रेष्ठ अर्थ।	(गा.45)
महाणुभाव (वि) महाशय, सज्जन।	(गा.45)
महाविसय (पु) महान् प्रमेय	(गा.45)
महग्घ (वि) दुर्लभ, कीमती।	(गा.60)
महाभीम (वि) अत्यन्त भयानक।	(गा.56)
महि (स्त्री) पृथ्वी, भूमि, धरती।	(गा.97)
माण (न) प्रमाण,।	(गा.52)
माणस (वि) मन संबंधी, मानसिक।	(गा.103)
मायाविण (वि) मायाविन्।	(गा.20)
मारण (न) हिंसा, वध, ताड़ना।	(गा.19)
मुण (सक) जानना, पहचानना।	(गा.31)
मुणि (पु) मुनि, श्रमण, भदंत।	(गा.11)
मुणि वणिय (पु) मुनि रूपी वणिक।	(गा.60)
मेत्त (न) मात्र, केवल, सम्पूर्ण।	(गा.3)
मेदिणि (स्त्री) पृथिवी, भूमि, मेदनि।	(गा.98)
मोक्ख (पु) मोक्ष, निर्वाण, मुक्ति।	(गा.96)
मोह (पु) राग, मूढ़ता, मिथ्यात्व।	(गा.10)
मोहावत्त (वि) मोह का आवर्त।	(गा.56)

'य'

य– अन्तस्थ व्यंजन इस व्यंजन का उच्चारण स्थान तालु।

यं (अ) जो, जो कि।	(गा.96)
य (अ) और, तथा, एवं जिस तरह।	(गा.8)
याण (न) वाहन।	(गा.79)

'र'

र– अन्तस्थ व्यंजन। इसका उच्चारण स्थान मूर्धा है।	
रदण (न) रत्न, कीमती पत्थर।	(गा.61)
रदण परिपुण्ण (वि) रत्न से परिपूर्ण, रत्नों से पूर्ण।	(गा.60)
रज्ज (अक) अनुराग करना।	(गा.16)
रण्ण (अ) अरण्य, वन, जंगल।	(गा.3)
राग (पु) आसक्ति, राग, प्रेम।	(गा.10)
राग–द्दोस (पु) राग और द्वेष।	(गा.50)
राय (पु) राग, लोभ कषाय।	(गा.8)
रुद्द (न) रौद्र ध्यान, कुध्यान।	(गा.5)
रुद्दज्झाण (न) रौद्रध्यान, कुध्यान।	(गा.24)
रुद्दज्झाणोवगद (वि) रौद्र ध्यान से उपगत, रौद्र ध्यान के पास आया हुआ।	(गा.25)
रोगासय समण (न) रोगशय का शमन। उपशमन।	(गा.100)

'ल'

ल– अन्तस्थ व्यंजन। इसका उच्चारण स्थान मूर्धा है।	
लह (सक) प्राप्त होना पाना।	(गा.38)
लक्खण (पु/न) लक्षण, स्वरूप।	(गा.52)
लाह (पु) लाभ, फायदा।	(गा.40)
लिंग (न) चिह्न, पहचान, निशानी।	(गा.15)
लिंग (सक) जानना, गति करना।	(गा.90)
लेस्सा (स्त्री) लेश्या, तेज।	(गा.14)
लेस्सातीद (वि) लेश्यातीत।	(गा.89)
लोगट्ठिदि (स्त्री) लोक की स्थिति।	(गा.54)
लोह (पु) लोभ, लालच, तृष्णा।	(गा.97)

'व'

व– अन्तस्थ व्यंजन। इसका उच्चारण स्थान दंत और ओष्ठ है।	
वंजण (न) व्यंजन, शब्द पद, वर्ण।	(गा.78)
व (अ) अथवा, वा, तथा, जैसा।	(गा.6/10)
वज्ज (सक) त्याग करना, छोड़ना।	(गा.18)
वज्ज परिवज्जि (वि) पाप का त्यागी।	(गा.50)
वज्जिद (वि) वर्जित, निषिद्ध।	(गा.35)
वज्जेदव्वं–त्यागना चाहिए।	(गा.18)

वट्ट (सक) प्रवृत्त करना, बरतना।	(गा.17)
वट्टमाण (न) विद्यमान, स्थित।	(गा.40)
वत्थु (न) वस्तु, पदार्थ, अर्थ।	(गा.3)
वत्थुस्सहाव–चिंतण (न) वस्तु के स्वभाव का चिंतन।	(गा.11)
वध (न) घात, हिंसा, वध।	(गा.22)
वयजोग (पु) वचन योग।	(गा.76)
वर–केवल (न) उत्तम केवलज्ञान।	(गा.40)
वसण सय (सावयमय (वि) सैकड़ों व्यसन रूपी सिंह मय।	(गा.56)
वा (अ) अथवा, या, तथा और।	(गा.2)
वाद णिद्ध (पु) बादर योग का निरोध।	(गा.81)
वायण (न) वाचना, पठन।	(गा.42)
वि (अ) अपि, और भी, ही, ऐसा।	(गा.4)
विओग (पु) वियोग, विरह।	(गा.7)
विउल (वि) विशाल, अगाद।	(गा.93)
विचिंत (सक) चिंतन करना।	(गा.51)
विणय दाण संपण्ण (वि) विनय और दान से संपन्न।	(गा.68)
विणिज्जरण (वि) निर्जरा, विनिर्जरण।	(गा.85)
विणियोग मइय (वि) विनियोग से युक्त।	(गा.61)
वित्थार (पु) विस्तार, फैलाव।	(गा.62)
विदिय (वि) द्वितीय, दूसरा।	(गा.80)
विपरिणाम (न) रूपान्तर प्राप्ति।	(गा.88)
विभूदि (स्त्री) विभूति, वैभव, ऐश्वर्य।	(गा.16)
विमाण (पु/न) विमान, देवयान।	(गा.54)
वियण (न) विजन, शून्य।	(गा.35)
वियोग (पु) विछोह, विरह।	(गा.6)
विरहिद (वि) रहित, अभाव।	(गा.47)
विरेयण (वि) विरेचन, दूर करने वाली।	(गा.100)
विवेग (पु) विवेक, विनय।	(गा.90)
विलिज्ज (अक) गल जाना, पिघलना।	(गा.102)
विस (पु/न) विष, जहर, गुल।	(गा.71)
विस–इंधण–हीण (वि) विष रूपी ईंधन से रहित/हीन।	(गा.74)
विसग्ग (पु) विसर्ग, निसर्ग त्याग।	(गा.90)

विसय (पु) विषय, प्रकरण।	(गा.70)
विसय–वत्थु (न) विषय वस्तु।	(गा.6)
विसयादि (पु) विषय आदि।	(गा.8)
विसाय (पु) विषाद, खेद, दुःख।	(गा.103)
विसुद्धि (वि) विशुद्धि, निर्मलता।	(गा.31)
विसेस (वि) विशेषता, प्रमुखता।	(गा.94/28)
विसोत्तिया (स्त्री) विमार्ग, गमन।	(गा.59)
विसोसण (न) विशोषण, शुद्धिकरण।	(गा.100)
विह (पु) भेद, प्रकार।	(गा.54)
विहाण (न) भेद, प्रकार	(गा.52)
विहिद (वि) कथित, निरूपित।	(गा.53)
वीचि (स्त्री) तरंग, कल्लोल।	(गा.57)
वीचि संताण (न) तरंग संतान।	(गा.57)
वीर (पु) वीर प्रभु, महावीर स्वामी।	(गा.1)
वेद (पु) वेद, ज्ञान, विज्ञ।	
वेय (पु) ज्ञान, विज्ञ।	(गा.62)
वेयणा (स्त्री) वेदना, पीड़ा, कष्ट।	(गा.7)
वेरग्ग (न) वैराग्य, विरक्ति।	(गा.30)
वेरग्ग भाविद मण (पु) वैराग्य से भावित मन।	(गा.34)
वेला (स्त्री) समय, अवसर, काल।	(गा.38)
वेह (न) वेधन, छेदन।	(गा.19)
वोच्छिण्णं किरिय मप्पडिवाई (स्त्री) व्युच्छिन्न–क्रिया–अप्रतिपाति ध्यान।	(गा.82)
वोम (न) आकाश, गगन।	(गा.54)
'स'	
स– ऊष्म व्यंजन, उच्चारण स्थान दन्त्य है।	
संकम (पु) संक्रम, गमन, संचार।	(गा.4)
संकादि–सल्ल–रहिद (वि) शंका आदि शल्यों से रहित।	(गा.32)
संकिलिट्ठ (वि) संक्लेश युक्त।	(गा.14)
संखिव (सक) संक्षिप्त करना।	(गा.70)
संघयण (न) संहनन।	(गा.64)
संजम (पु) संयम, चारित्र, व्रत।	(गा.12)
संजमाणुग (वि) संयम का अनुगामी।	(गा.18)

संजोग–विजोग (वि) संयोग–वियोग।	(गा.57)
संजोगाभिलासा (स्त्री) संयोग की अभिलाषा/इच्छा।	(गा.8/104)
संठाण (न) संस्थान।	(गा.52)
संत (पु) विद्यमान, अवस्थित।	(गा.84)
सोस (सक) कृश करना, क्षय करना।	(गा.97)
संतरण सह (वि) तारने में समर्थ।	(गा.58)
संमुज्झ (अक) मोह करना।	(गा.91)
संवर (पु) निरोध, संवर, निवारण।	(गा.93)
संवरकद णिच्छिद्द (न) संवर कृत निश्छिद्रता।	(गा.59)
संवरविणिज्जरा (स्त्री) संवर और निर्जरा।	(गा.96)
संसार–कारण (न) संसार का कारण।	(गा.96)
संसार–तरु बीज (न) संसार रूप तरु का बीज/मूल।	(गा.13)
संसार–वद्धण (न) संसार का वर्धन।	(गा.10)
संसार–सागर (पु) संसार रूपी सागर।	(गा.57)
संसार सुहाणुभाव (न) संसार के असुख का अनुभव/लगाव।	(गा.88)
संसार हेदु (पु) संसार का हेतु।	(गा.13)
सइ (अ) स्वतः, स्वयं, निजी।	(गा.47)
सकम्म जणिद (वि) स्व कर्म जनित।	(गा.57)
सकम्म–परिणाम–जणिद (वि) स्व कर्म परिणामों से जनित।	(गा.11)
सजोग (पु) योग सहित।	(गा.64)
सत्तवह (न) प्राणियों का वध।	(गा.19)
सद्द (पु/न) शब्द, ध्वनि, आवाज।	(गा.6)
सद्दत्थ (पु) शब्द और अर्थ।	(गा.85)
सद्दहण (न) श्रद्धहन, श्रद्धान।	(गा.67)
सद्दादि–विसय–गिद्ध (वि) शब्द आदि विषयों में गृद्ध/लम्पट।	(गा.17)
सद्दादि–विसय–साहण (न) शब्दादि विषय का साधन/उपाय।	(गा.22)
सद्धम्म परम्मुह (न) सम्यक धर्म से पराङ्मुख।	(गा.17)
सद्धेय (वि) श्रद्धेय।	(गा.105)
सभायणोदरत्थ (वि) श्रेष्ठ पात्र में उदरस्थ। रखे हुआ।	(गा.75)
सम (अकं) नष्ट होना, क्षय होना।	(गा.33)
समत्थ (वि) सम्पूर्ण, समस्त।	(गा.98)
समय–सब्भाव (पु) समय का सद्भाव।	(गा.62)

समाण (वि) समान, सदृश, तुल्य।	(गा.98)
समारूह (सक) आरोहण करना।	(गा.43)
समारोह (सक) ऊपर चढ़ना।	(गा.43)
समाहाण (न) समाधान।	(गा.41/37)
समाहि (पु/स्त्री) समाधि, समभाव।	(गा.44)
समुत्थ (वि) उत्पन्न।	(गा.103)
सम्मं (वि) यथार्थ, परिणामों से जनित।	(गा.11)
सम्मदंसण (न) सम्यग्दर्शन।	(गा.58)
सय (पु/न) सौ, संख्या विशेष।	(गा.55)
सरण्ण (वि) शरण्य, रक्षा योग्य।	(गा.1)
सरीर (न) शरीर, देह।	(गा.55)
सविंहओ (वि) सविस्मय।	(गा.16)
सवियार (न) विचार सहित।	(गा.78)
सव्व (स) सर्व, सब, समस्त।	(गा.18)
सव्वगुणाधाण (न) सर्व गुणों का आधान।	(गा.105)
सव्वण–समूहमय (पु) सर्वनय–समूह मय।	(गा.62)
सव्वण्णु–मय (न) सर्वज्ञ मत, सर्वज्ञ देव का सिद्धान्त।	(गा.48)
सव्वदो (अ) हमेशा, सर्वतः।	(गा.92)
सव्व–पमाद–विरहिद (वि) सम्पूर्ण प्रमाद से रहित।	(गा.63)
सव्व–संजोय (पु) सर्व संयोग।	(गा.92)
सव्व–सरीरगय (वि) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त।	(गा.71)
सव्वाभिसंकण (न) सभी पर शंका करना।	(गा.22)
सह (अक) सहन करना, झेलना।	(गा.11)
साभाविद (वि) स्वाभाविक।	(गा.61)
सामाइयादिग (वि) सामायिकादिक।	(गा.42)
सायर (पु) सागर, समुद्र।	(गा.54)
सार (पु/न) परमार्थ।	(गा.31)
सारीर (वि) शारीरिक, शरीर संबंधी।	(गा.104)
सावज्ज (वि) सावद्य, पाप सहित।	(गा.12)
सोह (सक) बनाना, आधीन करना।	(गा.97)
साहु (पु) साधु, श्रमण, यति।	
साहुगुण–क्कित्तण (न) साधुओं के गुणों का कीर्तन।	(गा.68)

सिग्घ (न) शीघ्र, तुरंत, जल्दी।	(गा.61)
सीदादव (पु/न) शीत और आताप।	(गा.104)
सीलंग (न) शील का भेद।	(गा.60)
सीसरोग (पु) शीश रोग, सरदर्द।	(गा.7)
सुक्क (न) शुक्ल ध्यान।	(गा.5)
सुक्कज्झाण (न) शुक्ल ध्यान।	(गा.1)
सुक्कज्झाणग्गि (पु) शुक्ल ध्यान रूपी अग्नि।	(गा.1)
सुक्कज्झाणोवगद-चित्त (न) शुक्ल ध्यान से उपगत चित्र।	(गा.90)
सुचिर (न) दीर्घ काल, चिरकाल।	(गा.4)
सुट्ठु (अ) ठीक, उपयुक्त, श्रेष्ठ।	(गा.47)
सुणिच्चल (वि) भले प्रकार से निश्चल, सुनिश्चल।	(गा.34)
सुणिप्पकंप (वि) सुनिष्प्रकंप।	(गा.70)
सुणिउण (वि) भले प्रकार से निपुण।	(गा.45)
सुणिबंधण (न) सुकारण, सुप्रयोजन।	(गा.58)
सुण्ण (वि) शून्य, रिक्त, खाली।	(गा.36)
सुपसत्थ (वि) सुप्रशस्त।	(गा.105)
सुप्पसत्थ (वि) सुप्रशस्त।	(गा.64)
सुभाविद-चित्त (न) सुभावित-चित्त, अच्छी तरह भावित चित्त।	(गा.65)
सुभाविद (व) अच्छी तरह से भावित।	(गा.87)
सुद सील संजमरद (वि) श्रुत, शील और संयम में रत।	(गा.68)
सुविदिद-जगस्सहाव (पु) अच्छी तरह से जाना गया जगत् का स्वभाव।	(गा.34)
सुह-साहण (न) सुख का साधन।	(गा.105)
सुहुम (वि) सूक्ष्म, अत्यंत छोटा।	(गा.91)
सुहुम-किरियाणियट्टि (स्त्री) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ति शुक्ल ध्यान।	(गा.81)
सुहुमोवरद-किरिया (स्त्री) सूक्ष्म उपरत-क्रिया।	(गा.86)
सुहाणुबंधि (स्त्री) शुभानुबंधि।	(गा.93)
सुहादाण (न) शुभ का आस्रव।	(गा.33)
सुहासव (पु) शुभास्त्रव।	(गा.93)
सुहासुह-विहत्त (न) शुभ और अशुभ में विभक्त।	(गा.51)
सूल (पु/न) शूल रोग, उदर रोग।	(गा.7)
सेल (पु) पर्वत, शैल, पहाड़।	(गा.82)
सेलेसि (पु) शीलेश्वर, शैलेसि, केवलि।	(गा.82/76)

सेलेसोव्व–थिर (वि) पर्वतों के ईश्वर सुमेरु की तरह निश्चल।	(गा.76)
सेव (सक) उपभोग करना।	(गा.12)
सेस (वि) शेष, अवशिष्ट, बचे हुए।	(गा.44)
सो (स) वह।	(गा.37)
सोक्ख (न) सुख, हर्ष, सौख्य।	(गा.61)
सोग (पु) शोक, संताप, दुःख।	(गा.103)
सोच्चिय (अ) वही, वैसा ही।	(गा.38)
सोज्झ (वि) शुद्धियोग्य, शोधनीय।	(गा.97)
सोयण (न) शोक करना।	(गा.15)
सोह (सक) घटना, कम करना।	(गा.97)
'ह'	
ह– ऊष्म व्यंजन।	
हरिस (अक) प्रसन्न होना।	(गा.27)
हिंसा (स्त्री) वध, घात, हनन।	(गा.26)
हि (अ) ही, निश्चय ही।	(गा.4)
हुदास (पु) हुताश, अग्नि।	(गा.73)
हेदु (पु) कारण, हेतु।	(गा.84)
हेदु–उदाहरण (न) हेतु और उदाहरण।	(गा.47)
हेदूदाहरण (न) हेतु तथा उदाहरण।	(गा.47)
हो (सक) होना, प्राप्त होना।	(गा.2)

॥ इदि सद्दकोसं समत्तं॥